प्राचीन काव्यों की रूप-परम्परा

अगरचन्द नाहटा



भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान,
बीकानेर (राजस्थान)

भारतीय विद्या मन्दिर ग्रन्थमाला–४

● परामर्श मण्डल

श्री नरोत्तमदास स्वामी एम ए

श्री नाथूराम खडगावत एम ए

श्री अक्षयचन्द्र शर्मा एम ए

श्री शंभूदयाल सक्सेना

● प्रथम संस्करण

शा सं १८८४ [१९६२ ई०]

● मूल्य ५ ०० रुपये

● प्रकाशक

भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान,

बीकानेर

● मुद्रक

एजूकेशनल प्रेस, बीकानेर

आभार

भारतीय विद्या मंदिर ग्रन्थमाला के अधीन प्रकाशित श्री अगरचन्दजी नाहटा की 'प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा' पुस्तक को विज्ञ पाठकों के हाथों में सौंपते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

प्रतिष्ठान की शुरू से ही यह नीति रही है कि वह मान्य विद्वानों की कृतियों को सुसंपादित रूप में पाठकों के समक्ष रखे। श्री चन्द्रदानजी चारण द्वारा संपादित 'गोगाजी चौहान री राजस्थानी गाथा' का जिस प्रकार साहित्य जगत में आदर हुआ है हमें आशा है इसी प्रकार श्री नाहटा के इन खोज पूर्ण निबंधों का भी पूर्ण आदर होगा।

प्रतिष्ठान के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री अक्षयचन्द्रजी शर्मा एम० ए०, साहित्यरत्न के कार्यकाल में जिन कृतियों का संपादन और संग्रह हुआ उनमें से यह भी एक है। उनका मार्गदर्शन संस्था के लिये बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में राजस्थान शिक्षा विभाग एवं उसके अध्यक्ष श्री जगन्नाथसिंहजी मेहता के सहयोग के लिये हम उनके बड़े आभारी हैं।

मूलचंद पारीक
रजिस्ट्रार
भारतीय विद्या मंदिर, बीकानेर

दो शब्द

राजस्थानी के प्रसिद्ध विद्वान् श्री अगरचन्दजी नाहटा के इन खोज-पूर्ण साहित्यिक निबंधों को पुस्तकाकार प्रकाशित करते हुये हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

बहुत पहले अध्येताओं का ध्यान इन निबन्धों की ओर चला गया था और कई शोध प्रबन्धों के लिये ये आधार भूत सामग्री प्रस्तुत कर पाये, यह कम गौरव की बात नहीं है।

ऐसी महत्वपूर्ण सामग्री, विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी रहने से शोध अध्येताओं को अधिक लाभ नहीं होता था अतः विद्वान पाठक अब इस नये रूप में इनसे और अधिक लाभ उठा पावेंगे।

सत्यनारायण पारीक

अध्यक्ष

भारतीय विद्यामंदिर शोध प्रतिष्ठान

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे गत इक्तीस वर्षों में लिखे गये 'प्राचीन भाषा काव्यों की रूप परम्परा" के सम्बन्ध में लेखों का संग्रह है जो समय समय पर पत्र-पत्रिकाओं जैसे-नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हिन्दी अनुशीलन, सम्मेलन पत्रिका, भारतीय साहित्य, कल्पना, अजन्ता, मरु भारती, राजस्थानी, संयुक्त राजस्थान, वागती प्रेरणा, दवनागर, राष्ट्र-भारती, शोध पत्रिका लोक कला जन मत्य प्रकाश आदि में प्रकाशित होते रहे हैं। उनमें से केवल चौदह उत्कृष्ट लेखों का सकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में चर्चित रचना प्रकारों के सम्बन्ध में गुजराती में दो अच्छे लेख प्रकाशित हो चुके हैं। जिनमें से प्रथम "गुजराती साहित्य ना स्वरूपो" के लेखक मेरे विद्वान मित्र डा० मन्जुलाल मजमुदार हैं। उनका ८५० पृष्ठों का यह ग्रन्थ आचार्य बुक डिपो बड़ौदा से सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ है। दूसरा ग्रन्थ 'मध्यकालना साहित्य प्रकारो" डा० चन्द्रकान्त मेहता का सन् १९५८ में — एन० एम० त्रिपाठी बम्बई से प्रकाशित हुआ है। हिन्दी साहित्य में भी इसके सम्बन्ध में कुछ उल्लेखनीय काम हुआ है। डा० रामबाबू शर्मा ने 'हिन्दी के काव्य रूपों का अध्ययन" शोध प्रबन्ध लिखा है। उसका सारांश भारतीय साहित्य के अक्टूबर ५९ के अंक में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार अन्य भी कई शोध प्रबन्धों में कतिपय काव्य रूपों की चर्चा की गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के 'फागु' नामक काव्य रूप पर मेरे विद्वान मित्र भोगेलाल सांडेसरा ने एक महत्वपूर्ण संग्रह प्रस्तुत किया है। जो सन् १९५५ में प्रकाशित हुआ है। उक्त "प्राचीन फागु संग्रह" नामक ग्रन्थ में ३८ रचनाएं मूल रूप से छपी हैं तथा ग्रन्थारम्भ में फागु के साहित्य प्रकार पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। फागु रचना प्रकार के सम्बन्ध में विद्वद्वर श्री दशरथ शर्मा एम० ए० ने भी एक उल्लेखनीय लेख लिखा है जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हो चुका है। रासो' रचना प्रकार के सम्बन्ध में एक विस्तृत अध्ययन और कतिपय महत्वपूर्ण रासो का संग्रह "रास और रासान्वयी काव्य"

नामक ग्रन्थ में किया गया है। यह ग्रन्थ काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो चुका है। 'बारहमासों' के सम्बन्ध में डा महेन्द्र प्रचण्डिया ने शोध प्रबन्ध लिखा है। 'विवाहला काव्यों' के सम्बन्ध में श्री पुरुषोत्तम मेनारिया शोध कर रहे हैं। 'वेलि काव्यों' का आलोचनात्मक अध्ययन डा० नरेन्द्र भानावत ने अपने शोध प्रबन्ध में किया है। 'पवाडा काव्य' के सम्बन्ध में श्री उषा मस्होत्रा ने शोध कार्य प्रारम्भ किया था। उनके कई लेख और पवाड़े मरु भारती में प्रकाशित हुए थे, पर व अपना शोध कार्य पूरा नहीं कर पायीं। 'ख्यालों' के सम्बन्ध में जयपुर निवासी श्री प्रभूदत्तजी ने शोध प्रबन्ध लिखा है, वह अभी तक अप्रकाशित है। 'हियालियों और प्रहेलिकाओं' पर डा० शंकरदयाल चौऋषि-व्यापक शोध कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य भी कई काव्य रूपों के पूर्ण या आंशिक रूप पर कार्य हो रहा है। उन सब का यहां उल्लेख सम्भव नहीं है।

इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम लेख मेरे सूयमल्ल आसन से दिये हुए "राजस्थानी जैन साहित्य सम्बन्धी तीन अभिभाषणों में से मध्यम अभिभाषण" का एक अंश है। इस में ११७ रचना प्रकारों की नामावली देते हुए ८० काव्य रूपों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इन रचना प्रकारों का सर्वाधिक प्रयोग जैन कवियों ने ही किया है। शताब्दियों तक इस परम्परा को निभाने का श्रेय भी उन्हें ही दिया जा सकता है। जैन कवियों ने एक एक रचना प्रकार वाली कितनी ही रचनाएं निर्मित की हैं। जिनका आभास प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखों से भी अच्छी तरह मिल जाता है। 'बारहमासों' की संख्या तो इतनी अधिक है कि उनकी सूची देना भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार 'गीत' नामक काव्य रूप के भी इतने भेद हैं कि — उनको लेकर स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है। महाकवि समय सुन्दर ने अनेक गीतों का निर्माण किया है जिनका संक्षिप्त विवरण मैंने अजन्ता के एक लेख में दिया है।

इस ग्रन्थ में जिन काव्य रूपों की चर्चा की गई है वे अधिकांश श्वेताम्बर जैन कवियों द्वारा प्रयुक्त हैं। दिगम्बर जैन कवियों ने इन काव्य रूपों के अतिरिक्त और भी कई काव्य रूप अपनी हिन्दी रचनाओं में अपनाये हैं, जो मेरी जानकारी में हैं, पर उसकी चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं की जा सकी है। इन काव्य रूपों में से अधिकांश की परम्परा अपभ्रंश काल से निरंतर चली आ रही है। अपभ्रंश भाषा की छोटी छोटी बहुत सी रचनाएं गुटका आदि संग्रह प्रतियों में होने से उनकी जानकारी अभी तक प्रकाश में नहीं आई है और बहुत सी ऐसी रचनाओं को दीमक नष्ट भी कर चुकी है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन करने का निर्णय तो दो-तीन वर्ष पूर्व हो गया था, पर कई कारणों से यह अब प्रकाश में आ रहा है। पूरी सावधानी बरतने पर भी कतिपय अशुद्धियां रह ही गई हैं। अगले संस्करण में ही इनका सुधार सम्भव है। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा पाठकों का अवश्य ही ज्ञानवर्द्धन होगा। इस ग्रन्थ को प्रकाशित करके भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान ने एक उपयोगी कार्य किया है। अतः इस संस्था के अध्यक्ष धन्यवाद के पात्र हैं।

— अगरचन्द नाहटा

विषयानुक्रम

प्राचीन भाषा-काव्यों की विविध संज्ञाएँ

उत्तर भारत की समस्त आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं का विकास अपभ्रंश भाषा से हुआ है। कुवलयमाला के उद्धरण के अनुसार नवीं शती में सोलह प्रांतीय भाषाएं कुछ मौलिक विशेषताओं के साथ बोलचाल के रूप में प्रचलित थीं, पर आठवीं से बारहवीं शती तक अपभ्रंश ग्रंथों से ज्ञात होता है कि साहित्य की भाषा सर्वत्र एक सी रूढ़ हो गई थी। उसके प्रांतीय रूपों में अंतर विशेष नहीं था। ग्यारहवीं शती में राजस्थानी भाषा के कुछ फुटकर पद्य जैन प्रबंध ग्रंथों में मिलते हैं। मुंज से संबंधित पद्य इसी समय के हैं। प्रबंध संग्रहों में मौखिक परंपरा के अनुसार उनका संग्रह किया गया प्रतीत होता है। आचार्य हेमचंद्र ने जो प्राचीन दोहे अपने ग्रंथ में संकलित किए हैं वे भी उनसे सौ डेढ़सौ वर्ष पुराने तो अवश्य होंगे। अतः उनका भी समय दसवीं ग्यारहवीं शती माना जा सकता है। उन दोहों तथा अन्य प्राप्त पद्यों के द्वारा अपभ्रंश से प्राचीन राजस्थानी के विकास के सूत्र मिल जाते हैं।

तेरहवीं शती में लोकभाषा में काफी परिवर्तन हो चुका था इसलिये जैन विद्वानों को अपभ्रंश के साथ साथ तत्कालीन भाषा में साहित्य निर्माण करना आवश्यक प्रतीत हुआ क्योंकि अपभ्रंश उस समय सुबोध नहीं रह गई थी और जैन विद्वानों को जैन धर्म के उपदेशों का प्रचार ऐसी भाषा में ही करना था जिसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी समझ सके। फलतः तेरहवीं शताब्दी से राजस्थानी की रचनाएँ हमें प्राप्त होने लगती हैं। ये रचनाएँ छोटी छोटी हैं और संभवतः मंदिरों एवं उत्सवों में गीत एवं नृत्य के साथ प्रचारित करने के उद्देश्य से रची गई हैं। नृत्य और गीत के साथ लम्बे काव्यों के अभिनय में सुविधा नहीं होती अतः बड़े-बड़े काव्य संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश में ही रचे जाते रहे। 'रास' संज्ञक रचनाएँ मूलतः नृत्य के साथ गाई जाती थीं। चौदहवीं शती तक वे लकुटीरास तालकरास आदि के नृत्य एवं गीत के साथ प्रचारित होती रहीं ऐसा ग्रंथकारों द्वारा रासों के अंत में किए गए निर्देश से

विषयानुक्रम

प्राचीन भाषा-काव्यों की विविध संज्ञाएँ

उत्तर भारत की समस्त आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं का विकास अपभ्रंश भाषा से हुआ है। कुवलयमाला के उद्धरण के अनुसार नवीं शती में सोलह प्रान्तीय भाषाएँ कुछ मौलिक विशेषताओं के साथ बोलचाल के रूप में प्रचलित थीं, पर आठवीं से बारहवीं शती तक अपभ्रंश ग्रंथों से ज्ञात होता है कि साहित्य की भाषा सर्वत्र एक सी रूढ़ हो गई थी। उसके प्रांतीय रूपों में अंतर विशेष नहीं था। ग्यारहवीं शती में राजस्थानी भाषा के कुछ फुटकर पद्य जैन प्रबंध ग्रंथों में मिलते हैं। मुंज से सबन्धित पद्य इसी समय के हैं। प्रबंध संग्रहों में मौखिक परंपरा के अनुसार उनका संग्रह किया गया प्रतीत होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने जो प्राचीन दोहे अपने ग्रंथ में संकलित किए हैं वे भी उनसे सौ-पचास वर्ष पुराने तो अवश्य होंगे। अतः उनका भी समय दसवीं ग्यारहवीं शती माना जा सकता है। इन दोहों तथा अन्य प्राप्त पद्यों के द्वारा अपभ्रंश से प्राचीन राजस्थानी के विकास के सूत्र मिल जाते हैं।

तेरहवीं शती में लोकभाषा में काफी परिवर्तन हो चुका था, इसलिये जैन विद्वानों को अपभ्रंश के साथ साथ तत्कालीन भाषा में साहित्य निर्माण करना आवश्यक प्रतीत हुआ क्योंकि अपभ्रंश उस समय सुबोध नहीं रह गई थी और जैन विद्वानों को जैन धर्म के उपदेशों का प्रचार ऐसी भाषा में ही करना था जिसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी समझ सके। फलतः तेरहवीं शताब्दी से राजस्थानी की रचनाएँ हमें प्राप्त होने लगती हैं। ये रचनाएँ छोटी छोटी हैं और संभवतः मंदिरों एवं उत्सवों में गाने एवं नृत्य के साथ प्रचारित करने के उद्देश्य से रची गई हैं। नृत्य और गीत के साथ लम्बे काव्यों के अभिनय में सुविधा नहीं होती अतः बड़े-बड़े काव्य संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश में ही रचे जाते रहे। रास संज्ञक रचनाएं मूलतः नृत्य के साथ गाई जाती थीं। चौदहवीं शती तक के लकुटीरास तालारास आदि के नृत्य एवं गीत के साथ प्रचारित होती रहीं ऐसा ग्रंथकारों द्वारा रासों के अंत में किए गए निर्देश से

स्पष्ट है। इस समय में बड़े बड़े रास उपलब्ध नहीं हैं। पन्द्रहवीं सदी से अपेक्षाकृत बड़े रास रचे जाने लगे और क्रमश उनका विस्तार बढ़ता गया। तब उनका उद्देश्य क्थावस्तु का विस्तार स वर्णन करना हो गया और व व्याख्यानों आदि में ना गाकर सबे समय तक सुनाए जाने लगे। आज भी जैन समाज में यह प्रथा प्रचलित है। कुछ वर्ष पूर्व तक श्वेतांबर जैन समाज में नियमित रूप से रात्रि एवं रास का व्याख्यान द्वारा रासों को गाकर ही किया जाता रहा है। गाँवों में अब भी ऐसा प्रचार है पर नगरों में कम होता जा रहा है। रासों के द्वारा व्याख्यान श्रवण करने वालों को लोग कम पढ़ा लिखा समझने लगे इसलिए व्याख्यानाताओं को अपनी विद्वत्ता का परिचय देने के लिए प्राकृत एवं संस्कृत काव्यादि ग्रंथों को अपने व्याख्यानों में अधिकता से अपनाना पड़ा। जिस प्रकार कि राजस्थान में जैन मुनियों के जितने व्याख्यान कुछ समय पहले तक मारवाड़ी भाषा में हुआ करते थे अब उसी कारण से मारवाड़ी का स्थान हिन्दी को देना पड़ा है। फिर भी गाँव में जहां शिक्षित व्यक्ति कम हैं जैन मुनियों के व्याख्यान मारवाड़ी में ही होते हैं और उनमें रास ढालें आदि गाकर सुनाई जाती हैं। तेरहपंथ सम्प्रदाय में आज अधिकतर व्याख्यान मारवाड़ी में ही होते हैं और चातुर्मास में रात के समय नियमित रूप से मुनि वेनराज रचित रामयणरसायन रास की ढालें गाकर सुनाई जाती हैं। पर नु समय के प्रभाव से अब इनमें भी हिन्दी में भाषण देना प्रारंभ हो गया है क्योंकि इसके बिना नवशिक्षितों का आकर्षण कम होता है और वक्ता भी शिक्षितों की कोटि में नहीं समझे जाते। स्थानकवासी सम्प्रदाय में रास अब भी रचे जाते हैं पर उनकी भाषा राजस्थानी के बदले हिन्दी प्रधान हो गई है। गुजरात में गुजराती के समृद्ध हो जाने के कारण आज भी रास गुजराती में ही रचे जाते हैं।

जैन भाषा काव्यों का परिचय देने के पूर्व उनकी विविध संज्ञाओं की एक सूची प्रस्तुत की जाती है।

(१) रास, (२) संधि (३) चौपाई (४) फागु (५) धमाल (६) विवाहलो, (७) धवल, (८) मंगल (९) वेलि (१०) सलोक (११) संवाद, (१२) वाद (१३) झगडो (१४) मातृका (१५) बावनी (१६) कक्क (१७) बारहमासा, (१८) चौमासा (१९) पवाडा (२०) चचरी (चाँचरि), (२१) जन्माभिषेक (२२) कलश, (२३) तीर्थमाला, (२४) चैत्यपरिपाटी (२५) संघ वर्णन (२६) ढाल, (२७) ढालिया, (२८) चौढालिया, (२९) छढालिया, (३०) प्रबंध, (३१) चरित, (३२) संबंध, (३३)

आख्यान, (३४) कथा, (३५) मतक, (३६) बहोत्तरी, (३७) छत्तीसी, (३८) सत्तरी, (३९) बत्तीसी, (४०) इक्कीसो, (४१) इकतीसा, (४२) चौबीसी, (४३) बीसी, (४४) अष्टक (४५) स्तुति, (४६) स्तवन, (४७) स्तोत्र (४८) गीत, (४९) सज्झाय, (५०) चरचवंदन, (५१) देववन्दन, (५२) वीनती, (५३) नमस्कार, (५४) प्रभाती, (५५) मगल, (५६) साझ, (५७) बधावा, (५८) गहूली, (५९) हीयाली, (६०) गूढा, (६१) गजल, (६२) लावणी, (६३) छद, (६४) नामाणी, (६५) नवरसो, (६६) प्रवहण, (६७) पारणो, (६८) वाहण (६९) पट्टावली, (७०) गुर्वावली, (७१) हमचडी, (७२) हींच, (७३) मालामालिका, (७४) नाममाला, (७५) रागमाला (७६) कुलक, (७७) पूजा, (७८) गीता, (७९) पट्टाभिषेक, (८०) निर्वाण, (८१) सयमश्री विवाह वर्णन, (८२) भास, (८३) पद, (८४) मजरी, (८५) रसावली, (८६) रसायन, (८७) रस लहरी, (८८) चद्रावला, (८९) दीपक, (९०) प्रदीपिका, (९१) फुलडा (९२) जोड, (९३) परिकम, (९४) कल्पलता (९५) लेख, (९६) विरह, (९७) मूंदडी, (९८) सत, (९९) प्रकाश, (१००) होरी, (१०१) तरग, (१०२) तरगिणी, (१०३) चौक (१०४) हुँडी (१०५) हरण, (१०६) विलास, (१०७) गरबा, (१०८) बोली, (१०९) अमृतध्वनि, (११०) हालरियो, (१११) रसोई, (११२) कक्का, (११३) झूलणा, (११४) जकडी, (११५) दोहा (११६) कुडलिया (११७) छप्पय आदि।

इन समस्त सज्ञाओं का विवरण देना इस लेख मे सभव नहीं, अत प्रधान सज्ञाओ का ही सक्षेप में स्पष्टीकरण किया जायगा।

(१) रास—राजस्थानी एव गुजराती भाषा की बड़ी रचनाओं मे सबसे अधिक रास सज्ञक ही हैं। रास सज्ञक रचनाओ का निर्माण अपभ्रश काल से ही प्रारभ हो जाता है। उपदेशरसायनरास और सदेशरास अपभ्रश का ही रचनाएँ है। इनमे से उपदेश रसायनरास का नाम उसके रचयिता जिनदत्त सूरि ने केवल 'उपदेशरसायन' ही दिया है परतु उसके टीकाकार सूरि जी के प्रशिष्य के शिष्य जिनपाल उपाध्याय ने उसमें 'रासक' जोडकर उसे 'उपदेशरसायन रास' सज्ञा दे दी है। यह ग्रथ साधारण जैन जनता के लिये उपदेश के रूप मे, विशेषत उस समय प्रचलित अविधि को हटाने और विधि मार्ग का प्रचार करने के उद्देश्य से पद्धटिकाबद्ध ८० गेय पद्यो मे रचा गया है। टीकाकार के कथनानुसार यह सब रागों मे गाया जा सकता है। इस ग्रथ के छत्तीसवें पद्य मे तालारासु और लगुडारासु नामक दो प्रकार के रासों का उल्लेख किया गया है—

मूल—तालारासु वि दिति रयणिहि दिवसि वि लगडारासु सहुँ पुरिसिहि ।

टीका—तालारासमपि न ददति श्राद्धाः ... रात्रौ ... दिवसे च लगुडरासं पुरुषैः सार्धं ... तदानीमपि ... दन्तु ... प्रमाद ... पानादयुगात् ।

आशय यह है कि उस समय जैन मन्दिरों में श्रावक आदि लोग रात्रि के समय तालियों के साथ (ताल देकर) रासों को गाया करते थे उसमें जीवहिंसा की संभावना के कारण रात्रि में तालरास का निषेध किया गया है ।* इसी प्रकार दिन में पुरुषों के स्त्रियों के साथ लगुडरास करने (दंडियों के साथ नृत्य करते हुए रास गाने) को भी अनुचित बताया गया है । जैन मन्दिरों में ये दोनों रास चौदहवीं सदी तक गाये जाते थे यह सं० १३२७ में रचित सप्तक्षेत्री रास से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है—

बइसइ सहूइ श्रमणसंघ सावय गुणवंता ।
जोयइ उच्छवु जिनह भुवणि मनि हरष धरंता ॥
तीछे तालारस पडइ बहु भाट पढंता ।
अनइ लकुटारस जोईइ खेला नाचंता ॥४८॥
सविहू सरीखा सिणगार सवि तेवड तेवडा ।
नाचइ धामीय रंगभरे तउ भावहि रूडा ।
सुललित वाणी मधुरि सादि जिणगुण गायंता ।
ताल मानु छंद गीत मेलु वाजिंत्र वाजंता ॥४६॥

(प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह सप्तक्षेत्रिरासु, पृष्ठ ५२)

रास संज्ञक दूसरी अपभ्रंश रचना सदेशरासक है । इसके रचयिता कवि अब्दुल रहमान ने चौथे पद्य में इसका नाम सनेहय रासय और उन्नीसवें पद्य में 'सनेह रासउ' दिया है, जो दोनों ही संदेश रासक के अपभ्रंश हैं । रासय शब्द संस्कृत 'रासक' का अपभ्रंश है । उसका परवर्ती विकास य के स्थान में उ होकर 'रासउ' हो गया । रासक का उल्लेख हर्षचरित (बाणभट्ट सातवीं शताब्दी) में मिलता है ।

*— सं० १४०० के लगभग जिनेश्वर सूरि के श्रावक जगडू रचित सम्यकत्वमाई चउपई में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—तालारासु रयणि नहि देइ, लउडारासु मूलह वारेइ ॥ २१ ॥ (प्रा० गु० का० संग्रह पृ० ८०)

उपरूपक विशेष है। वाग्भट्ट और हेमचंद्र ने काव्यानुशासन मे रासक के संबध मे निम्नोक्त स्पष्टीकरण किया है—

डोम्बिका भाण प्रस्थान भाणिका प्रेरण शिगक रामाक्रीड हल्लीसक श्रीगदित–रासक गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि। (वाग्भट्ट)

गेय डोम्बिका भाण प्रस्थान शिंगक भाणिका प्रेरण रामाक्रीड हल्लीसक-रासक-गोष्ठी श्रीगदित–राग काव्यादि। (हेमचंद्र)

वाग्भट्ट के काव्यानुशासन की वृत्ति के अनुसार ये सब डोम्बिकादि गेय रूपक है।

पदार्थाभिनयस्वभावानि डोम्बिकादीनि गेयानि रूपकाणि चिरंतनैरुक्तानि।

इन्ही मे से रासक भी एक रूपक है जिसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

अनेकनर्तकीयोज्य चित्रताललयान्वितम्।
आचतु षष्टियुगलाद्रासक मसृणोद्धतम्॥

अर्थात् रासक एक ऐसा कोमल और उद्धत गेय रूपक है जिसमें अनेक नर्तकियाँ होती हैं अनेक प्रकार के ताल और लय होते हैं और ६४ तक के युगल होते हैं।

पीछे रास, रासु अथवा राउस शब्द प्रधानतया कथाकाव्यों के लिये रूढ–सा हो गया और रसप्रधान रचना रास मानी जाने लगी। रास' एक छंद विशेष भी है। राजस्थानी में रासा शब्द का प्रयोग लडाई झगडे या गडबड घोटाले के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है। परंतु प्राचीन जैन रचनाओ के नामो में तो रास शब्द का ही प्रयोग मिलता है, रासो का नहीं कई पुरानी रचनाओ में 'रासु' भी मिलता है। सत्तरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं अठारहवीं शती की कुछ विनोदात्मक रचनाओ मे 'रासो' और 'रासौ' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। उदर रासा और माकड रासो आदि ऐसे ही रास है।

(२) संधि—अपभ्रंश काव्यों के सर्गों की संज्ञा 'संधि' है। आचार्य हेमचंद्र ने महाकाव्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—

पद्यप्राय संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नवृत्तसर्गाश्वाससंध्यवस्कन्धकबंध सत्संधिशब्दार्थवैचित्र्योपेत महाकाव्यम्।

अर्थात् महाकाव्य मुख प्रतिमुखादि संधियों एवं शब्द अर्थ की विचित्रता से युक्त होता है तथा संस्कृत महाकाव्य सर्गों में, प्राकृत आश्वासों मे अपभ्रंश संधियो में एवं ग्राम्य स्कंधो में निबद्ध होता है।

'सधि' शब्द मूलत अपभ्रंश महाकाव्य के सर्गो के लिये ही प्रयुक्त होता था किंतु तेरहवी चौदहवी शती में वह एक सर्ग वाले खंड काव्यों के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। अपभ्रंश म जिनप्रभ सूरि आदि की संधि संज्ञक पद्रह रचनाएँ मिलती हैं। संधियों की परपरा उन्नीसवीं शती तक निरतर चलती रही। चौदहवी शती के तो दो ही संधि काव्य मिलते हैं किंतु सोलहवीं से उन्नीसवीं तक राजस्थानी एवं गुजराती भाषा मे वे पचासो की सख्या म प्राप्त हैं जिनम राजस्थानी अधिक हैं और उनम भी खरतरगच्छीय विद्वानो के सबसे अधिक।

(३) चौपाई—रास के बाद बडी रचनाओं म सबसे अधिक 'चौपाई' नामक रचनाएँ मिलती है। चौपाई या चौपई का सस्कृत रूप चतुष्पदी भी प्रयुक्त मिलता है। मूलत यह चौपाई छदो म लिखी रचनाओं का नाम था पर पीछे 'रास' की भांति चरितकाव्य के लिये रूढ हो गया, यहा तक कि कही कही एक ही रचना की सज्ञा किसी ने चौपाई लिख दी तो दूसरे ने रास। चौपाई छन्द तो अपभ्रंश काव्यों म भी प्रयुक्त हुआ है, पर उन ग्रंथों का नाम चौपाई नही रखा गया।

चौदहवी शती से राजस्थानी रचनाओं के नामो म इस सज्ञा का प्रयोग मिलने लगता है। नमिनाथ चतुष्पदिका, सम्यक्त्वाई चौपाई—ये दो सोलहवी शती की रचनाएँ प्राचीन गुर्जर काव्यसग्रह म प्रकाशित हैं। इनमें स दूसरी रचना म लिखा है—'हासामिसि चउपई बधु कियउ।

(४५) फागु धमाल— वसत ऋतु का प्रधान उत्सव फाल्गुन महीने में होता है। उस समय नर नारी मिलकर एक दूसरे पर अबीर आदि डालते है और जल की पिचकारियो से क्रीडा करते अर्थात् फाग खेलते है। जिन म वसत ऋतु के उल्लास का कुछ वर्णन हो या जो वसत ऋतु म गाई जाती हैं ऐसी रचनाओ को फागु सज्ञा दी गई है। इन रचनाओं की यह विशेषता है कि इनमे शब्दालकार के साथ यमक बध अनुप्रास पाया जाता है। इस शैली को फागु बध' कहा गया है। कुछ पद्य उदाहरणार्थ उद्धत किए जाते हैं—

अणहिलवाडउ पाटण, पाटण नयर जे राउ।
दीसई जिहां श्रीअ जिणहर, मणहर सपद ठाउ ॥८

(जै० ए० गु० काव्यसचय, देवरत्नसूरि फाग, पृ० १५१)

पहिलू सरसति अरचीसू रचीसू वसत विलास।
वीण धरइ करि दाहिण, वाहण हसलु जास ॥

पहुतीय तिहुणो हिव रति, वरति पहुती वसत,
दह दिसि परसइ परिमल, निरमल थ्या नभ भ्रत ॥ २
(प्रा० गु० काव्य वसत विलास', पृ० १५)

समरवि त्रिभुवनसामणि, कामणि सिरि सिणगार।
कवियण वयणि जा वरसइ सरइस अमिउ अपार ॥ १ ॥
(जोरापल्ला पारवनाथ फागु पृ० ६७)

यह शैली फागु सबधी सभी रचनाओ में नही अपनाई गई है। स्थूलभद्र फाग और पिछले अन्य फागो में भी यह नही है।

फागु और धमाल दोनों ही एक प्रसग से सबधित हैं अत कई रचनाओं की सज्ञा किसी ने फागु दी है तो किसी ने धमाल। फागु और धमाल के छद एव रागिनी में अतर होगा, पर पीछे से ये दोनो नाम होली के आसपास गाई जानेवाली रचनाओ के लिये प्रयुक्त होने लगे। प्राचीन दिगबर रचनाओ मे धमाल का प्राकृत रूप ढमाल' भी मिलता है। इधर लगभग डेढ सौ वर्षो से छोटे छोटे भजन डफ और चगो पर गाए जाने लगे हैं उनकी सज्ञा होरी भी पाई जाती है। फागु एव धमाल सज्ञक रचनाएँ इनसे काफी बडी होती थी। बहुत से व्यक्ति मिल कर चग ढोल, डफ और भाँझ आदि वाद्या के साथ उन्हे गाते थे, तब एक कोलाहल सा मच जाता था इससे बोलचाल मे धमाल' का प्रयोग कोलाहल या उपद्रव के अर्थ मे भी होता है।

फागु सज्ञक रचनाएँ धमाल से अधिक प्राचीन और अधिक संख्या मे मिलती हैं। स० १३५० के आसपास से ऐसी रचनाओ का प्रारभ होता है। उपलब्ध फागु काव्यों मे खरतरगच्छीय जिनपद्म सूरि का जिनचद सूरि फागु सर्वप्रथम और सबसे प्राचीन है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारभ के खरतरगच्छीय यति राजहस द्वारा रचित नेमिफाग अंतिम कृति है। राजस्थानी एव गुजराती मे फागु सज्ञक लगभग ५० रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनका परिचय जैन सत्यप्रकाश (वर्ष ११ १२ एव १४) मे प्रकाशित है। धमाल सज्ञक रचनाएँ ८ १० ही प्राप्त हैं और वे सतरहवीं शताब्दी की ही अधिक हैं।

(६ ८) विवाहलो, धवल, मगल—जिस रचना में विवाह का वर्णन हो उसे विवाहला' कहते हैं। जैन कवियों ने नेमिनाथ आदि तीर्थंकरो और जैनाचार्यो के सयमश्री के साथ विवाह के प्रसग को लेकर बहुत से विवाहले रचे है। आचार्यो के लौकिक विवाह का तो कोई प्रसग था नही, क्योकि वे ब्रह्मचारी ही रहते थे अत उनके

द्वारा ग्रहण किए गए व्रतो का ही सयमश्री रूपी कन्या मान उसी के साथ उनके विवाह का वर्णन इन काव्यो म रूपक के रूप म दिया गया है। उदाहरणाथ कवि सोममूर्ति द्वारा स० १३३१ म रचित जिनश्वर सूरि सयमश्री विवाह वर्णन रास म जिनेश्वरसूरि, जिनका बाल्यावस्था का नाम अवडकुमार था जब दीक्षा लेने की तयारी करत हैं तो पहले अपनी माता स दीक्षा की अनुमति मागते हुए कहत है—

इहु ससार दुहह भडार ता हउ मेल्हिसु अतिहि असार ॥६॥
परिणिसु सजमसिरि वरनारी, माई माईए मज्झु मणह पियारी।

इसके पश्चात् जब व दीक्षा ग्रहण करन क लिए गुरुजी क पास जाते हैं उस समय यान ले जान बाज बजने जीमनवार (भोज) होने चवरी (मडप) मडने, और अग्नि साक्षि स सयमश्री का पाणिग्रहण करने का वर्णन बहुत ही सुदर रूपको क साथ किया गया है। यहाँ कुछ उद्धरण दिए जात है—

अभिनव ए चालिय जानउत्र अबड़ तणइ विवाहि।
अप्पुणु ए धम्म चक्कवइ हूयउ जानह माहि ॥ १६ ॥
कारइ कारइ नमिचडु भडारिउ उच्छाहु।
वाघइ वाघइ जान देलि, ललमिणि हरपु अवाहु ॥ १९ ॥
कुसलिहि लमहि जानउत्र पहुतिय खेड मझारि।
उच्छवु हूयउ अइ पवरो नाचइ फरफर नारि ॥ २० ॥
जिणवइ सूरिण मुणि पवरो देसण अमिय रसेण।
कारिय जीमणवार तहि जानह हरिस भरेण ॥ २१ ॥
सति जिणेसर नर भुवणि, माडिउ नवि सुवेहि।
वरसिहि भविय दाण जलि, जिम गयणगणि मेह ॥ २२ ॥
तहि अणयारिय नीपजइ झाणानलि पजलति।
तउ सवेगहि निम्मियउ, हथलवउ सुमुहुति ॥ २३ ॥
इणि परि अबडुवर कुयर परिणइ सजम नारि।
बाजइ नदीमतूर घण, गूडिय घर घर बारि ॥ २४ ॥

उपाध्याय मरुनदन क जिनोदयसूरि विवाहला म भी ऐसा ही सुन्दर वर्णन

है। उसमे विवाह करानेवाले जोशी का स्थान गुरुश्री को दिया गया है। ये दोनों काव्य हमार एतिहासिक जन काव्य सग्रह' मे प्रकाशित हो चुके हैं।

विवाहला सनक उपलब्ध रचनाओ में सबस प्राचीन जिनप्रभसूरि रचित अतरग विवाह अपभ्र श भाषा में उपलब्ध है। यह भी आध्यात्मिक विवाह है आदिमत की पक्तिया इस प्रकार हैं—

प्रारभ—पमाय गुणठाणि तहि अहे भवियजिउ निरुवमु वरु ए।
चहुविह सघु जानउत्र कीय अहे वाहण सहस सीलग ॥ १ ॥

अत—इणपरि परिणए जो प जगि अह लहइ सो सिद्धिपुरि वासु।
मगलिकु वीर जिणप्रभ ए अहे मगलिकु चहुवीह सघ ए ॥

(अतरग विवाह धवल वसतरागेण भणनीय)

इसकी रचना स० १३०० के आसपास की है और इसके बाद ही जिनेश्वर सूरि—सयमश्री रास का स्थान है। इस प्रकार चौदहवी शताब्दी से ऐसे काव्यो का निर्माण होन लगता है और बीसवी शताब्दी तक क्रम जारी रहता है। ऐसी लगभग ८ रचनाओ का अभी तक पता चला है।

विवाह म गाए जानेवाल गीतो को 'धवल' वा 'मगल कहा जाता है और विवाह स्वय एक मागलिक काय माना जाता है, अत कई रचनाओ म विवाह के साथ 'धवल' शब्द भी नामात पद के रूप मे व्यवहृत है, जसा कि ऊपर 'अतरग विवाह' के साथ यह जुडा हुआ मिलता है। धवल सनक रचनाओ का प्रारभ तेहरवीं शताब्दी से होता है। 'जिनपति सूरि धवल गीत उपलब्ध रचनाओ में सबसे प्राचीन है, जो हमारे ऐतिहासिक जन काव्य सग्रह' मे प्रकाशित है। ऋषभदेव विवाहल को सना 'धवलबध' दी गई है। नमिनाथ धवल, वासपूज्य धवल आदि कुछ रचनाएँ धवल' संज्ञक प्राप्त हैं। हिन्दी, राजस्थानी और बँगला म जो 'मगल सना वाले काव्य मिलते है, वे इसी परम्परा की दन ह। राजस्थानी का प्राचीन काव्य 'रुक्मणी मगल' बहुत प्रसिद्ध लोकमान्य है। पर इसका नामात पद 'मगल आधुनिक है। मूलत लखक न इसकी सज्ञा विवाहलो ही दी है। इसकी सबसे प्राचीन प्रति स० १६६६ की प्रस्तुत लखक के सग्रह म है और दो प्रतिया उसे बीसवी शती की प्राप्त हुई हैं इसका मूल रूप बहुत छोटा था, परन्तु समय समय पर इसमें लोकप्रियता के कारण परिवतन परिवद्धन होत रहे। प्रकाशित

सस्करण हमारी प्रति से कोई वद्रह बीस गुना बढ गया है।

(६) वेलि— राजस्थानी साहित्य म क्रिसन रुक्मणी री वेलि' बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। *इस सज्ञा का स्पष्टीकरण करते हुए वेलि अर्थात् लता का सु दर रूपक* निम्नोक्त दो पद्यों म दिया गया है—

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ, महिथाणौ प्रिथुदास मुख ।
मूल ताल जड अरथ मड हे सुथिर करणि चढि छांह सुख ॥२६१॥
पत्र अक्खर दल द्वाला जस परिमल नवरस ततु विधि अहोनिसि ।
मधुकर रसिक सुभगति मजरि फूल फल भुगति मिसि ॥२६२॥

इस सज्ञावाली पचास रचनाओं का मुझे पता लग चुका है, जिनमे पद्रह राजस्थानी तथा दो गुजराती जनतर रचनाए (सीतावेलि और व्रजवलि) हैं। हि दी में भी मनोरथ वल्लरी तुलसीदास और भगवानदास रचित ज्ञात हुई हैं। २१ रचनाएँ जनों विद्वानो द्वारा रचित हैं जिनम वाच्छा श्रावक की 'चहुँगति वेलि सबस प्राचीन है। इसका समय स० १५२८ के लगभग है। इसी शताब्दी मे सीहा लावण्यसमय और सहजसु दर ने भी वेलिया बनाई। सतरहवी से उन्नीसवी शताब्दी तक यह क्रम जारी रहा। स० १८८६ क बाद इस सज्ञा वाली कोई रचना उपलब्ध नही है।*

(१०) सलोका— मूलत सस्कृत श्लोक' शब्द स जनभाषा म सलोका या सिलोका शब्द प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। मध्यकाल म वर जब विवाह क लिये ससुराल जाता तो उसकी बुद्धि की परीक्षा के लिये पहले वर का साला कुछ श्लोक कहता और फिर उसकी *प्रतिस्पर्धा मे वर श्लोकों द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय देता था।* पद्रहवी शती के लगभग की एक रचना हमार निजी सग्रह म है जिसम वर ने साल को सबोधन करत हुए अपने आराध्य देव गुरु कुलदेवी, गोत्र मातापिता, नगर, उसके शासक, तुरग, तोरण आदि क वर्णनात्मक श्लोक कहे है। लोक भाषा म उनकी व्याख्या भी है। इसके अन्त में वरदान एव सुखप्राप्ति के लिय गणेश और सरस्वती की प्राथना की गई है। उदाहरण के लिय विवाह मडप क या की प्राप्ति आदि के श्लोक कहकर साले का कुतूहल पूर्ण करने की सूचना वाले तीन पद्य यहा दिए जाते हैं—

---

*उपलब्ध रचनाओं क सम्बन्ध में श्री कापड़िया का लेख 'जन धम प्रकाश व ६५ अक २ में प्रकाशित है।

मध्यनिर्मितमनोहरवेदि प्रेक्षणादिककुतूहलपूर्ण ।
गीतलीनतरुणीप्रणरम्य स्वगखण्ड इव मडप एष ॥ ८ ॥

अहो शालक । जेहनइ मध्यि चहू दिस नूतन वेहि जररा करिउ मडित । लक्ष्मी करिउ अखडित, चउरी चतुर चितु चोरइ । प्रेक्षणीय प्रमुख कुतूहल सकुलु । धवल मगल गीतगान तत्पर सुदर जन मनोहरु विचित्र पवित्र चद्रोदय सहितु सवगखण्डविजित्वरु मडपु सोमइ ॥ ८ ॥

तत्र तत्र साधुजनाय दत्त दान स्मृता पचनमस्क्रिया च ।
सतीययात्रा विहिता च तेन पुण्येन लब्धा भवत स्वसेय ॥ १६ ॥

अहो शालक । मइ पूर्विलइ भवि निमलु चार भेदु तपु कीधउ । चारि त्रिया तपोधन रिहाी भावना पूर्वकु दानु दीधउ । अनइ जिनशासन सारु पच परमेष्टि नमस्कारु स्मरयउ श्री शत्रुजय गिरिनार सरीखइ तर्थि जाइउ । श्री वीतराग पूज्या । तीणि पुण्य करिउ मइ ताहरी वहरण लाधी । १६ ॥

नालिकरनतमेकमानय तत्र पूगनतपच तयव ।
शालक प्रचुरकाव्यसचय पूरयामि तव कौतुक यथा ॥१७॥

अहो शालक । जइ किमइ मुभरहइ नालिवेर नउ सतु । अनइ फाफल ना पाच सय । नायणि करइ एक मडि दियइ । तउ हउ सनलोक समस्तु अनेकि सलोकि करिउ आपग । शालक नउ कुतूहलु पूरवउ ॥ १७ ॥

विवाह के समय साले और वर के द्वारा सिलोक कहने की प्रथा प्राचीन है । विमल म त्री क विवाह के प्रसग म कवि लावण्यसमय ने विमलप्रबन्ध में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

मुहता तोरणि जोइ लोक, सोहरा साला कहि नलोक ।
विम वाणि अमरो मांभली स्या साला ते दह त्रिनि टली ॥६४॥

खतरगच्छ के शांतिसागर सूरि और जिनसमुद्र सूरि के प्रवेशोत्सव आदि के वर्णनवाली दो रचनाए 'राजस्थानी , भाग २ में प्रकाशित हो चुकी हैं । वे भी "अहो शालक' सबोधन के साथ हैं अत वे भी उपयु क्त विवाह-प्रसग में वर के द्वारा कही जाने

के लिये ही बनाई गई प्रतीत होती हैं।

आगे चलकर उक्त प्रथा एव तद्विषयक रचना के प्रकार म अन्तर आ गया। गुजरात के उत्तरी भाग और राजस्थान मे विवाह प्रसग म सिलोक कहे जाते हैं जिन्हें बरातियो मे से जानकार लोग मन्दिर म देवी देवताओ एव वीरों के गुणों का वर्णन करते हुए विशेष ढग के साथ कहकर सुनाते हैं। इन सबकी शैली रूढ़ हो गई है। राजस्थानी भाषा क छन्द ग्र थ 'रघुनाथरूपक' म वचनिका का दूसरा भेद सिलोको बतलाते हुए जो उदाहरण दिया है, वह नीचे दिया जाता है। उपलब्ध सलोको में यही शैली प्रयुक्त मिलती है—

दूजो भेद इणनू लोकोकत सिलोको हो कहे छ।
बोल सीतापत इसड़ीजो बाणी सुरनर नागां न लाग सुहाणी।
सेसाजल हणमत जिमही सरसाई, वीरां अवरांरो कीधी बडाई॥
धनुधरता वायक सांभल जोधारा, पोरस अगों मे वधियो अणपारा।
पुणव कर जोड जीतब फल पायो मान श्रीलावद इतरो फुरमायो॥

इस शैली के जन जनेतर पचासो राजस्थानी गुजराती सिलोक प्राप्त है, जिनमे बीसो छप भी चुके हैं। अठारहवी शती से इसका रचनाक्रम चलता है और उ नीसवी के भी काफी सिलोके मिलत हैं। बीसवी शती मे यह प्रथा कमजोर होने लगती है। अब नगरो मे सिलोका कहने की प्रथा का अ त हो गया है परन्तु गावों में यह अभी तक प्रचलित है।

(११ १३) स वाद बाद भगडो— कवि हृदय विलक्षण होता है। वह अपनी कल्पना द्वारा जिन वस्तुओ में वास्तव म कोई विवाद नही उनमे भी विरोधी भावना उत्प न करके उनके मु ह से अपने गुण और महत्व का और दूसरे की हीनता का वर्णन कराता है। उन दोनों के प्रस ग के कवि की प्रतिभा का सु दर परिचय प्रस्तुत हो जाता है। ऐसी रचनाओ का स ना 'सम्वाद, वाद अथवा भगडो रखी गई है। स स्कृत के 'स वादसु दर' ग्र थ म भी ऐसे नौ स वाद स कलित हैं। राजस्थानी एव गुजराती मे ऐसी लगभग तीस रचनाए प्राप्त हुई हैं जो चौदहवी शती से उन्नीसवी तक की हैं। जनेतर स वादात्मक रचनाओं म बीकानेर के महाराजा रायसिंह के आश्रित कवि बारहठ शंकर का, दातार सूर रो स वाद' प्राप्त है। हिन्दी भाषा में भी नरहरि आदि कवियो द्वारा कई

संवादात्मक रचनाएँ लिखी गई हैं।

(१४ १६) मातृका बावनी-कक्क— इनमें वर्णमाला के अक्षर ५२ मानते हुए प्रत्येक वर्ण से प्रारम्भ करके प्रासंगिक पद्य रचे जाते हैं। ऐसी रचनाओं की संज्ञा 'बावनी' है। अपभ्रंश से ऐसी रचनाओं का प्रारम्भ होता है। इसकी अन्य संज्ञा 'कक्क' है। हिन्दी में इसे 'अखरावट' भी कहते हैं। तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी की ऐसी चार रचनाएँ— शालिभद्र कक्क, दूहा मातृका, सम्यक्त्वमाई चौपाई, मातृका चौपाई प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह में प्रकाशित हैं। ये बावनी के पूर्व रूप हैं। सोलहवीं शताब्दी से ऐसी रचनाओं का नाम 'बावनी' व्यवहृत हुआ है यद्यपि आदि अंत में कुछ अन्य पद्य जोड़ने से पद्यों की संख्या ५५ ५७, या ६० तक पहुँच गई है। कुछ रचनाएं मातृकाक्षरों के क्रम पर नहीं रची गईं, पर उनकी पद्य संख्या ५२ से कुछ ही अधिक होने पर उनको भी 'बावनी' कहा गया है। हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती तीनों भाषाओं में जैन कवियों द्वारा रचित पचास के लगभग बावनियां हैं। भिन्न भिन्न छन्दों में रची होने से इनके नाम दूहाबावनी सवयाबावनी, कवित्तबावनी, कुण्डलिया बावनी आदि रखे गए हैं और कुछ के नाम विषय के अनुसार धर्मबावनी, गुणबावनी इत्यादि मिलते हैं। टीकमगढ़ से प्रकाशित मधुकर पत्र में कई वर्ष पूर्व 'बावनी संज्ञक हिन्दी रचनाएँ' शीर्षक लेख प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी भाषा की कतिपय बावनियों, बारहखड़ियों, बत्तीसियों आदि का विवरण लेखक द्वारा संपादित 'राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज', भाग ४ में दिया गया है। इनमें वर्णमाला के अक्षरों का क्रम इस प्रकार रखा गया मिलता है— ओं (न मो सि द्ध) अ, आ इ ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ ओ, औ, अं, अः, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष।

(१७ १८) बारहमासा चौमासा— बारह महीनों के ऋतु परिवर्तन एवं विरह-भाव को व्यक्त करनेवाली रचनाओं का नाम बारहमासा' है। जैन और जैनेतर दोनों प्रकार के बारहमासे सैकड़ों की संख्या में मिलते हैं। साधारणतया एक एक महीने का वर्णन एक एक पद्य में होने से १५–२० पद्यों में ये रचे जाते हैं। पर कई बारहमासे बहुत बड़े बड़े भी हैं जिनकी पद्य-संख्या ४६–५० से लेकर १०० से ऊपर तक पहुँच गई है। प्रकृति वर्णन सम्बन्धी रचनाओं में इन बारहमासों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उपलब्ध बारहमासों मे सबस प्राचीन 'जिनधममूरि बारह नावउ' है, जिसकी पद्य–सख्या ५० है । यह तेरहवी शता दी की रचना है और पाटन की तालपत्रीय प्रति म उपल ध है । नमूने के लिये कुछ पक्तिया नीचे दी जाती हैं—

तिहुयण मणि चूडामणिहि बारहनावउ धमसुरि माहह।
निसुणेहु सुयणहु ! नाण सणाहह पहिलउ सावण सिरि फुरिय ॥१॥
कुवलय दल सामल घणु रज्जइ न मइलु मडन उम्भुणि छज्जइ।
विज्जुलडो भबकिहि सवइ मणहर विरयारेवि कला सु।
भ नु करेविणु कलि केका रवु फिरि फिरि नाचहि मोरला।
मेहणि हार हरिय छमिणवर भ्रोढण भयउ हिय नीलबर
विघलिय नव भालइ कलिय ॥२॥

बारहमासे नेमिनाथ और स्थूलिभद्र सम्ब धी अधिक मिलते हैं। इसी प्रकार चार मास का वणन करनेवाले 'चौमासे' भी प्राप्त हैं।

(१९) पवाडा— किसी व्यक्ति के विशिष्ट कार्यो का वणन करनेवाली रचनाओ को 'पवाडा' कहते हैं। पद्रहवी शती में हीरानन्द सूरि रचित 'विद्याविलास पवाडो' मिलता है । कुछ अ य जन पवाडे भी प्राप्त हैं पर उनकी स ख्या अधिक नही । साइयाभूला के नागदमण ग्र थ मे पवाडा पनग तणउ श द मिलता है । बाद मे महाराष्ट्र म पवाडों की परपरा बहुत जोरो से प्रचलित हुई पर यह शब्द वीर का य के लिये रूढ हो गया ।

राजस्थानी भाषा में पाबू जी के पवाडे बहुत प्रसिद्ध हैं । ये पवाडे करुण एव वीर रस से सराबोर हैं । इनमे से 'सांगी जी रो पवाडो' 'राजस्थानी भारती' वष ३ अक २ मे प्रकाशित हो चुका है । इसी प्रकार कई अ य पवाडे भी राजस्थानी म प्रसिद्ध हैं। य पवाडे पड (घटनाओ का दिग्दशन कराने वाला चित्रपट) को दिखाते हुए गाए जाते हैं ।

(२०) चचरी— रास की भाँति ताल एव नृत्य क साथ, विशेषत उत्सव आदि मे, गाई जानेवाली रचना को 'चचरी' स ना दी गई है । विक्रमोवशीय के चतुर्थांक में अपभ्र श भाषा के कई चचरी पद्य पाए जाते हैं, इससे इस स ना की प्राचीनता का पता चलता है । प्राकृत पिंगल में चचरी नामक छन्द भी बतलाया गया है । 'चचरी' और

'चाचरी' इसके नामांतर हैं। जायसी में भी फागुन और होली के प्रसंग में चाचरि या चाँचर का उल्लेख है। जिनदत्त सूरि जी ने जिनवल्लभ सूरि जी की स्तुति में ४७ पद्यों की चर्चरी नामक रचना अपभ्रंश में रची है, जो अपभ्रंश 'काव्यत्रयी' में प्रकाशित है। इसके पश्चात् जिनप्रभ सूरि, सोलण, जिनेश्वर सूरि और एक अज्ञात कर्ता की, ये चार चर्चरियाँ चौदहवीं शती में रची गईं। इनमें से सोलण वाली ३८ पद्यों की रचना प्रा० गु० काव्यसंग्रह में प्रकाशित है।*

(२१-२२) जन्माभिषेक, कलश— तीर्थंकरों के जन्म के अवसर पर उन्हें इंद्रादि देव मेरुशिखर पर ले जाकर स्नातक करते हैं, उस समय के भाव को प्रकाशित करनेवाली रचना को 'जन्माभिषेक या कलश' संज्ञा दी गई है। तीर्थंकर की प्रतिमा को कलश से स्नान कराते समय ये रचनाएँ बोली जाती हैं। ऐसी लगभग १५ रचनाएँ चौदहवीं से सोलहवीं शती तक की उपलब्ध हैं। अब उनका स्थान पीछे की बनी हुई 'स्नात्रपूजा' ने ले लिया है, अतः इसका प्रचार नहीं रहा। इस विषय पर 'जैन सत्य प्रकाश,' वर्ष १४ अंक ४ में प्रो० हीरालाल कापड़िया का 'जन्माभिषेक ने महावीर कलस' लेख प्रकाशित है।

(२३-२५) तीर्थमाला, चैत्य-परिपाटी एवं संघवर्णन— जिस रचना में जैन तीर्थों की नामावली हो उसे 'तीर्थमाला', जिसमें एक ही स्थान या अनेक स्थानों के जैन मंदिरों की यात्रा का अनुक्रम से वर्णन हो उसे 'चैत्य परिपाटी' या 'परिवाडी' तथा जिसमें साधु-साध्वी-श्रावक श्राविका चतुर्विध संघ के साथ की गई तीर्थयात्रा का वर्णन हो उसे 'संघवर्णन' संज्ञा दी गई है। तीर्थमाला तो प्राचीन भी मिलती है पर चैत्य-परिपाटी चौदहवीं शताब्दी से ही प्राप्त है। संघवर्णन सत्तरहवीं शताब्दी से अधिक प्राप्त होता है। अनेक स्थानों की ऐतिहासिक सामग्री ऐसी रचनाओं में संकलित है। कई तीर्थमालाएँ बहुत विस्तार से लिखी गई हैं और उनमें भारत के प्रायः सभी जैन तीर्थों के वर्णन हैं। तीर्थयात्रा वर्णनात्मक स्तवन भी छोटे बड़े अनेक मिलते हैं। प्राचीन तीर्थों का संग्रह 'तीर्थमाला संग्रह', पाटण चैत्य परिपाटी' एवं ऐसी अन्य बहुत सी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। अप्रकाशित रचनाएँ हमने संगृहीत कर ली हैं, वे यथासमय प्रकाशित की जायगी।

---

*विशेष द्रष्टव्य—अपभ्रंश काव्यत्रयी पृष्ठ ११८, १४ एवं 'जैन सत्य प्रकाश' वर्ष १२ अंक ६ में प्रकाशित श्री हीरालाल कापड़िया का 'चर्चरी' शीर्षक लेख।

(२६-२९) ढाल, ढालिया, चौढालिया, छढालिया आदि— इस रचना के गाने की तर्ज या देशी को संज्ञा 'ढाल' है। सतरहवी शती में जब रास, चौपाई आदि की रचना लोकगीतों की देशियों में होने लगी तब इनकी संज्ञा ढाल बद्ध हो गई। बड़े बड़े रासो में शताधिक ढालें पाई जाती हैं। चार या छः ढालोंवाली छोटी रचनाओं को संख्या के अनुसार चौढालिया या छढालिया कहा गया है। अनेक प्रकार की देशियों या तर्जो में रचे होने के कारण गुणसागर सूरि के हरिवंश रास को 'ढाल सागर' भी कहा गया है। तेरहवीं से पंद्रहवी शती तक की रचनाएं चौपाई, रासा, भास वस्तु ठवणी आदि छन्दों में बनाई जाती थीं। प्राचीन रचनाओं में एक छंद के पूरे हो जाने पर एक 'कडवक' का पूरा होना माना जाता था। इसी तरह जब ढालों का प्रचार हुआ तो एक ढाल के अंत में दोहा या छन्द देकर उसे पूरा किया जाता था। ढालों में रची जाने के कारण रचना को 'ढालिया' संज्ञा भी दी गई है।

ढालों को किस देशी के तर्ज पर गाना चाहिए इसका निर्देश उन ढालों के प्रारम्भ में उस देशी की प्रारम्भिक पंक्ति उद्धृत करके किया गया है। देशियों की प्रथम पंक्तियों के इन उद्धरणों से सहस्रों प्राचीन लोकगीतों के अस्तित्व का पता चलता है। श्री देसाई ने बहुत सी देशियों का संग्रह जैन गुर्जर कविओ के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया था। पर अभी इस दिशा में बहुत कार्य शेष है।

(३०-३४) प्रबंध, चरित्र, सम्बन्ध, आख्यानक, कथा— चरित्र, आख्यानक और कथा प्रायः एकार्थवाची हैं। जो ग्रंथ जिसके सम्बन्ध में लिखा गया है उसे कहीं कहीं उसके नाम से उसका 'सम्बन्ध' या 'प्रबंध' कहा गया है।

(३५-४४) सतक, बहोत्तरी, सत्तरी, छत्तीसी, बत्तीसी, इक्कीसी, इकतीसी, चौबीसी, बीसी, अष्टक आदि—

ये सब नाम रचनाओं के पद्यों की संख्या के सूचक हैं। इनमें से कई बत्तीसिया बावनी की भांति वर्णमाला के बत्तीस अक्षरों से प्रारम्भ होनेवाले पद्यों की भी हैं। चौबीसी और बीसी चौवीस तीर्थंकरों और बीस विहरमानों के स्तवनों के संग्रह रूप हैं।

(४५-५३, ८३) स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, गीत, सज्झाय, चैत्यवंदन, देववंदन, वीनती, नमस्कार, पद आदि—

इनमें तीर्थंकरों या अन्य जैन महापुरुषों के गुणों का वर्णन है। स्तुतिप्रधान रचनाओं को स्तवन, स्तुति, स्तोत्र या गीत संज्ञा दी गई है। इनमें स्तुतियाँ चार

पर्वोंवाली होती हैं, जि हें 'थूई' भी कहते हैं। चैत्यवदन, मन्दिर में वदन करने की क्रिया विशेष है। वठकर स्तवन करते समय पहले चत्यवदन पढा जाता है। देववदन पव दिवसों के लिय विशेष अनुष्ठानरूप हैं। विनयप्रधान रचना को विनति या वीनती कहते हैं। गेय पदों की मना गीत है। साधुओं व सतियों के गुण वर्णन करनवाले तथा दुगुणो व परिहार एव सद्गुणों के स्वीकार क प्रेरणादायक गीत स्वाध्याय' या 'सज्झाय' कहलात हैं। 'पद' विशेष रूप से आध्यात्मिक गीता का कहते हैं। व राग रागनियों म गाए जात हैं।

(५४ ५८) प्रभाती मगल, साझ बधावा, गहूली आदि— प्रात काल गाए जानेवाले गीतों को 'प्रभाती' एव 'मगल' और सध्या समय गाए जानेवालों को सांझ' या 'सांझी' कहते हैं। आचार्यो व आगमन पर बधाई क रूप में गाए जानेवाले गीतो को बधावा या 'बधावणा' और आचार्यो के सम्मुख चावल के स्वस्तिक आदि की गहूँली करते समय उनके गुणवर्णनादि क जो गीत गाए जाते हैं उ हें 'गहूँली' कहते हैं।

(५६ ६) हीयाली, गूढा— जिन पद्यों का अर्थ गूढ हो उन्ह 'गूढा' कहते हैं। किसी वस्तु के नाम गुप्त रखते हुए नाम को स्पष्ट करने वाली विशेष बातों का वर्णन जिनमें किया गया हो ऐसी रचनाओं को 'ही।ली' या हरियाली' कहते हैं। हिन्दी में इन्ह कूट कहा जाता है। इनक द्वारा बुद्धि की परीक्षा की जाती है। रासो में पति पत्नी की परस्पर गाष्ठी का ज । वर्णन आता है वहाँ वे हीयालियो एव गूढाओं द्वारा परस्पर मनोरजन एव विनोद करते पाए जात हैं। प्राकृत सुभाषित ग्रन्थ 'वज्जालग्ग' म हीयाली वज्जा की पद्धति है। उसम तो हीयाली भी गूढा जैसी ही एकपद्यवाली रचना प्रतीत होती है। परतु जन कवियों की प्राप्त हीयालिया ५ ७ वा १० पद्यों तक की भी मिलती हैं। सोलहवी शताब्दी म ऐसी हीयालियों का विशेष प्रचार हुआ। ये सकडों की सख्या में मिलती हैं। लगभग पचास तो हमारे ही सग्रह म हैं। उनम कई बडी सुन्दर हैं। जन मुनियों ने अपने नित्य के व्यवहार मे आनेवाले ओघा, मुँहपत्ति स्थापनाचारी आदि से सम्बन्धित हीयालिया भी बनाई हैं। ज्ञानसार जी रचित गूढाबावनी ग्रथ हमारी ज्ञानसार ग्रन्थावली में छप चुका है।

(६१ ६४) गजल, लावणी छन्द नीसाणी आदि–जन कवियो की गजल सनक रचनाओं म नगरों और स्थानों का वर्णन है। इनकी रचना का एक विशेष प्रकार होता था। सभी गजलें उस एक ही शली में रची गई हैं। सबस प्राचीन नगर वर्णनात्मक गजल जटमल नाहर रचित 'लाहोर गजल' है जो स० १६८० के आसपास की है। भाषा

हिंदी है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में गजलें रचने का बड़ा प्रचार रहा है। लगभग चालीस गजलें मैंने संगृहीत की हैं। उनकी भाषा प्रधानतया हिन्दी होने पर भी उनमें राजस्थानी के शब्दों का व्यवहार प्रचुरता से किया गया है। लावणी, नीसाणी और छन्द भी रचना के विशेष प्रकार हैं। छंद जैन तीर्थंकरों में पार्श्वनाथ के अधिक मिलते हैं। वैसे लोकमान्य देवी देवताओं के सम्बन्ध में तो काफी संख्या में मिलते हैं। सतरहवीं से उन्नीसवीं शती तक इनका प्रचार अधिक रहा। लावणी अधिक प्राचीन नहीं मिलती।

(६५-६८) नवरसो प्रवहण वाहण पारणो आदि— जिस रचना में नौ रसों का वर्णन हो उसका नामान्त पद 'नवरसा' मिलता है। स्थूलभद्र और नेमिनाथ के दो ही नवरसे ज्ञात हैं। 'प्रवहण' और 'वाहण' उन रचनाओं के नाम हैं जिनमें जहाज के रूपक का वर्णन होता है। भगवान महावीर आदि तपस्वियों के पारणे का जिसमें वर्णन हो ऐसी रचना की संज्ञा 'पारणा' रखी गई है।

(६९-७०) पट्टावली गुर्वावली— इनमें जैन गच्छों की आचार्य परम्परा का इतिवृत्त संकलित किया गया है। पट्ट परम्परा या गुरु परम्परा का वर्णन होने से इसका नाम पट्टावली या गुर्वावली प्रसिद्ध है।

(७१-७२) हमचड़ी हीच— तालियों से ताल देते हुए और संगीत की लय के साथ पावों से ठेका देते हुए रास की भांति गोलाकार घूमते हुए जिस रचना को पुरुष गाते हैं उसे 'हीच' और जिसे स्त्रियां गाती हैं उसे 'हमचड़ी' कहते हैं। कभी-कभी पुरुष और स्त्रियां साथ साथ भी गाती हैं। इस संज्ञावाली जैन रचनाएं दो चार ही मिलती हैं।

(७३-७५) माला मालिका, नाममाला, रागमाला आदि— जिन रचनाओं में तीर्थंकरों के विशेषणों या साधुओं के नामों की माला गुम्फित की गई हो उन्हें नाममाला मुनिमालिका, आदि संज्ञा दी जाती है। शील के रूपकों के नामोंवाली रूपकमाला संज्ञक दो जैन रचनाएं सोलहवीं शती की प्राप्त हैं। जिन रचनाओं में राग रागनियों के नामों को ग्रथित किया हो उन्हें *रागमाला कहा जाता है।*

(७६) कुलक— जिस रचना में किसी शास्त्रीय विषय की आवश्यक बातें संक्षेप में संकलित की गई हों या किसी व्यक्ति का संक्षिप्त परिचय दिया गया हो उसकी संज्ञा 'कुलक' या 'कुलउ' दी गई है। प्राकृत एवं अपभ्रंश में सैकड़ों कुलक मिलते हैं जिनकी सूची संकलित करके मैंने जैनधर्म प्रकाश वर्ष ६४ अंक ८, ११, १२ में

प्रकाशित की है। राजस्थानी म सोहलवी सतरहवी शताब्दी के कुछ फुलक प्राप्त हैं।

(७७) पूजा— जनागम रायपसेणीय सूत्र म तीर्थंकरों की मूर्ति म सतरह प्रकार की पूजन विधि का वणन है। जबूद्वीपपन्नत्ति आदि मे तीथकरों की ज माभिषेक विधि का विस्तृत विवरण है। मध्यकाल मे अष्ट प्रकार की पूजा का बडा प्रचार रहा। इसके सबध म प्राकृत भाषा म कथाग्र थ भी मिलते हैं। उन पूजाओ मे से स्नात्रविधि पहले सस्कृत मे की जाती थी और पीछे अपभ्रश के जन्माभिषेक और वणन भी इसी विधि मे सम्मिलित कर दिए गए। पन्द्रहवी शताब्दी तक तो यही क्रम चालू रहा, पर सोलहवीं मे कवि देपाल ने तत्कालीन भाषा मे स्नात्रविधि की रचना की। फिर इस स नात्रवाली अनेक पद्य रचनाएँ राजस्थानी और गुजराती मे बनना चली गई। अष्टप्रकारी पूजा भी पहले एक एक श्लोक बोलकर कर नी जाती थी। पीछे मे उसके विस्तृत वणनवाली पूजाए भी लोकभाषा म रची गई। अन्य पूजाओं मे भी इन आठ प्रकारो को महत्व दिया गया है। सत्तरभेदी पूजा का सतरहवी शताब्दी मे तपागच्छीय सकलचद और खरतरगच्छीय साधुकीर्ति आदि न सवप्रथम लोकभाषा मे निर्माण किया। पूजाओ का प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी मे बडे जोरो से हुआ। फलत पचासो विविध नामोवाली पूजाओ का उन्नीसवी शती से अब तक निर्माण होता रहा है।

(७८) गीता— भगवद्गीता का प्रचार विगत कई शताब्दियो से बढता चला आ रहा है अत गीता' शब्द की लोकप्रियता से आकर्षित होकर कुछ जन विद्वानों न इस नामात पद्यवाली रचनाएँ भी की हैं, जिसका कुछ परिचय मैंने 'श्रमण', वष २ अक ६ मे गीता सज्ञक जन रचनाए' लेख मे दिया है।

(७६ ८०) पटटाभिषेक निर्वाण, सयमश्री विवाह वणन आदि— जिस रचना में जनाचार्यो के पटटाभिषेक (आचाय पद प्राप्ति) का वणन हो उसे 'पटटाभिषेक रास एव जिसमे उनको स्वग प्राप्ति या निर्वाण वणन हो उस 'निर्वाण तथा जिसमे दीक्षा वणन की प्रधानता हो उसे 'सयमश्री विवाह वणन' सज्ञा दी गई है।

संधि सज्ञक काव्य

अपभ्रंश भाषा उत्तर-भारत की बहुत सी प्रमुख भाषाओं की जननी है अत उन भाषाओं के समुचित अध्ययन के लिये अपभ्रंश के सांगोपांग अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है। हर्ष की बात है कि कुछ वर्षों से विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है और अपभ्रंश साहित्य के अन्वेषण अध्ययन एवं प्रकाशन का कार्य दिनोदिन आगे बढ़ता जा रहा है। प्रोफेसर हीरालालजी जैन का अपभ्रंश भाषा का बहुत अच्छा अध्ययन है। इसी प्रकार प० परमानन्दजी के अन्वेषण से अनेक नवीन तथा अज्ञात अपभ्रंश ग्रंथों का पता लगा है। बहुत दिनों से मेरी इच्छा थी कि अपभ्रंश साहित्य पर पूर्ण प्रकाश डालने वाला इतिहास ग्रंथ तय्यार किया जाय। दो तीन वर्ष हुए मैंने उक्त दोनों विद्वानों को पत्र लिख कर अपभ्रंश साहित्य का इतिहास लिखने का अनुरोध भी किया था। उत्तर में प्रोफेसर साहब ने सूचित किया कि उन्होंने इस विषय में एक विस्तृत निबंध लिख कर नागरी प्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेजा है। प० परमानन्दजी ने लिखा कि वे एक ऐसा ग्रंथ लिखने की तय्यारी कर रहे हैं। अत मैंने विचार किया कि इन दोनों अधिकारी विद्वानों की कृतियां प्रकाशित होने पर ही मेरा कुछ लिखना उचित होगा और मैंने अपना इस संबंध का शोध कार्य स्थगित कर दिया। इसीबीच में शांति निकेतन में प० हजारीप्रसाद द्विवेदी से भेंट होने पर उन्होंने अपभ्रंश साहित्य पर लिखने के लिये स्नेहानुरोध किया परन्तु अपभ्रंश साहित्य दिगंबर जैन विद्वानों का रचा हुआ ही अधिक है और मेरी ओर दिगंबर साहित्य की कमी है अत इस कार्य को हाथ में लेना उचित प्रतीत नहीं हुआ।

अभी कुछ दिन पूर्व नागरी प्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित प्रोफेसर हीरालाल जी का निबन्ध दृष्टिगत हुआ और विश्व भारती आदि पत्रिकाओं में श्रीयुत रामसिंह तोमर के लेख भी पढने में आये। इनसे पुराने विचार को नवीन प्रेरणा मिली और इस विषय में शोध का कार्य आरम्भ किया जिसके फल-स्वरूप पांच-सात निबन्ध लिखे गये जिनको पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने का श्रीगणेश इस निबन्ध द्वारा किया

जा रहा है।

प० परमानन्द जी इस विषय मे क्या नवीन जानकारी देते हैं यह जानना अभी शेष है अत अभी मैं उन्हा बाता पर प्रकाश डालूंगा जिनके सम्बन्ध में इन दोनो दिगबर विद्वानो की जानकारी बहुत सीमित होगी, अर्थात श्वेताम्बर विद्वानों के रचे हुए साहित्य पर। यदि समय और सयाग ने साथ दिया तो विशेष विचार भविष्य मे किया जायगा।

अपभ्रश साहित्य की चर्चा करते समय श्वेताम्बर विद्वानो की अपभ्रश साहित्य की महान सेवा को भुलाया नही जा सकता। जिस प्रकार दिगबर ग थकारो न अपभ्रश के बडे-बडे महाकाव्य लिखे हैं उसी प्रकार श्वेताम्बर विद्वानो ने विविध नामा और प्रकारा वाले लघु काव्य लिखने म कौशल का परिचय दिया है। परवर्ती श्वेताबर साहित्यकारा को अपभ्रश के इस लघु-काव्य-साहित्य स बडी भारी प्रेरणा मिला जिसस उनने इन विविध परम्पराओ को अक्षुण्ण ही नहीं रखा कि तु व उन्हे विकसित करन और नय नय अनक रूप देने मे समथ हुए। सधिकाव्य की परम्परा भी एक एसी ही परम्परा है और उसी के विषय में प्रकाश डालने का प्रयत्न इस निब ध म किया जा रहा है।

प्रस्तुत लेख के लिखने की प्रेरणा मुनि श्री जिनविजयजी क एक पत्र स मिला जिस म उनने लिखा था—

मेरी एक विद्यार्थिनी, जो पी एच० डी० का अभ्यास कर रही है, वह कुछ अपभ्रश आदि की सधि, जस आनन्द सधि, भावना सधि, केशी गोयम-सधि इत्यादि प्रकार के जो सधि प्रकरण हैं, उनका एक सग्रह कर रही है और सधि के स्वरूप आदि के विषय मे शोध कर रही है। अभी उसने जिक्र किया और आपको पत्र लिखने बठा। इससे स्फुरित हुआ कि आपके पास वैसी बहुत सी कृतिया होगी। अगर हो तो भज दें ताकि उनका अच्छा उपयोग हो। च दनदास सधि, सुबाहु सधि आदि एस अनेक प्रकरण हैं। पाटण वगरह में कुछ प्रतियाँ हैं। उनको भी यथावकाश प्राप्त करने का प्रयत्न करूं गा। पर इससे पहले आपके पास से जल्दी सुलभता के साथ मिल सकेंगी एसी आशा स आपको लिख रहा हूँ।

मुनिजी का अनुमान सही निकला। अपन म ग्रह की सूची को ध्यान से देखन पर उसम बहुत बडी सख्याम सधि काव्य प्राप्त हुये। अपभ्रश सधि काव्या के साथ साथ अठारह-बीस परवर्ती सधिकाव्य भाषा के भी उपलब्ध हुए। इनके अतिरिक्ति बीकानेर वृहद ज्ञान

भडार आदि ग्र या य सग्रहा मे भी सधिका योकी अनेक प्रतिया विद्यमान है जिनमेंसे कई ग्र क नवीन भी हैं।

सधि नाम का ग्रय

अपभ्र श मे सधि शब्द सस्कृत के सग या अध्याय के अथ में आता है। आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

पद्य प्राय सस्कृत प्राकृत पभ्र श ग्राम्य भाषा निबद्धभि ना त्यवृत्त सर्गा ऽऽश्वास-सध्यवस्कधक बध सत्स धि शब्दाघ वचिन्योपेत महाकाव्यम् ।

इससे जान पडता है कि स स्कृतके महाकाव्य सर्गों म प्राकृतके महाकाय आश्वासो म, अपभ्र श के महाकाव्य स धियो में और ग्राम्यभाषा के महाकाव्य अवस्कधो मे विभक्त होत थ। परवर्ती कवियों न अ क स धिवाल खडका याको स धिकाव्य नाम दिया।

महाका यका प्रत्यक स घि अनक कडवकों म विभक्त होता था। इन स धिका यो में से कई कडवका म विभक्त हैं कई नही है।

अपभ्र श के सधि काव्य

हमारी शोघ स अभी तक नीच लिखे अपभ्र श के स धिकाव्योका पता चला है —

(१) अनाथि-स धि

कर्ता—जिनप्रभ सूरि

समय—स वत १२९७ के लगभग।

कथा वस्तु के लिये उत्तराध्ययन सूत्र देखना चाहिये ।

आदि—जस्स उजवि माहप्पा परमप्पा पाणिणो लहूँ हुंति
त तित्थ सुपसत्थ जयइ जमे वीर जिण-पहुणो
विसमेहि विनडिउ कसाय जगडिउ हा अणाहु तिहुयण भमइ
जो अप्प जाणइ सम सुहु माणइ अप्पारामि सु अभिरमइ
रायगिहि नयरि सेणीउ राउ गुरुभत्ति निवेसिय वीयराउ
सो अन्न दिवसि उज्जाणि पत्तु मुणि पिक्खवि पणमइ नमिय गत्तु

अत— चाउ चउ सरणु गमणो दाणाइ सु धम्म पत्त पाहेउ
सीलग रहारूढो जिणपह पहिम्रो सया सुहिम्रो
अणाथिया सधि ॥ कडव ॥२॥

(२) जीवानुशास्ति सधि

कर्त्ता— जिनप्रभ

आदि— जस्स वहाणज्जवि तव सिरि ममलक्यिा जिया हुँति
सो णिच्च वि अणघो स घो भट्टारगो जयइ ॥१॥
मोहारिहि जगडिय विसर्मीहि विनडिय
तिव्व दुक्ख-खडिय खडियइ चिरु
ससार विरत्तह पसमिय चित्तह
सत्तह देमि गुसट्ठि निरु ॥२॥

अत— इय विविह-पयारिहि विहि अणुसारिहि
भाविहि जिणपहु मणुसरहु
सुत्तेण य पवरिहि आणासु तरिहि
भवियण भव सायरु तरहु ॥३१८॥
जीवानुशास्ति सधि समात्त

(३) मयणरेहा सधि

बिस्तार— कडवक ५

कर्त्ता— जिनप्रभ

समय— सवत १२९७, आश्विन शुक्ला ६

आदि— निरुवम-नाण निहाणो पसम पहाणो विवय सनि०ाणो
दुग्गइ दार पिहाणो जिन घम्मो जयइ सुह कामो ॥१॥
सुमरिवि जिण सासणु सुह निहि सामगु
सिरि नमि महरिसि मणि घरिउ
पभणिसु ससेविहि मयणरेह महा-सइ चरिउ ॥२॥

अत— श्रेसा महा-सईम्रे सधी सघीव सजम निवास
ज नमि निवरिसणा सह ससवकरा खीर सजोगो ॥२॥
वारह सत्ताणउम्रे वरिस आसोअ सुद्ध छट्ठिमे
सिरि सघ पत्यणाय अय लिहिय सुआभिहिय ॥३॥
मयणरेहा सधि समात्त ॥

(४) वयरसामि संधि

कर्त्ता— वरदत्त (?)

आदि— अह जण निसुणिज्जउ क नु धरिज्जउ
वयरसामि मुणिवर चरिउ

अंत — मुणिवर वरदत्ति जाणहर भत्ति वयरसामि— गणहर— चरिउ।
साहिज्जइ भावि मुच्चइ पावि जि तिहुयणु निय गुण भरिउ ॥६६॥
चरिउ सुसारउ भविय वियारउ वइरसामि गणहर— चरिउ।
जो पढइ क्रियायर गुण रयणायर सो लहु पावइ परम पउ।
वइरसामि संधि समाप्त ॥

(५) अंतरंग-संधि

कर्त्ता— रत्नप्रभ

आदि— पणमवि दुह खडण दुरिय विहडण जगमडण जिण सिद्धिठिय
मुणि क न रसायणु गुण गण भायणु अंतरंग मुणि संधि जिय ॥१॥
इह अत्थि गामु भव बाम णामु बहु जीव ठामु विसयाभिरामु
दीसंति जत्थ अणन्ति छेह बहु रोग सोग दुहु जोग गेह ॥२॥

अंत— अहि अंतह कारणु विस उत्तारणु ज गुलिमंतह पत्तणु जिम
कय सिव सुह-संधिहि अह सुसंधिहि चितणु जाणु भविय ! तिम ॥१८॥
इति अंतरंग संधि समाप्त। इति नवमाधिकार ॥

(६) नमदासुन्दरी संधि

कर्त्ता— जिनप्रभ शिष्य

समय— संवत १३२८

आदि— अज्ज वि जस्स पहावो वियलिय पावो य ऊवलिय पयावो
त वद्धमाण— तित्थ नदउ भव— जलहि— वोहित्थ ॥१॥
पणमवि पणइदह वीर जिणवह चरण कमलु सिवलच्छि कुलु
सिरि-नमयासुन्दरि गुण जल सुरसरि विवि चुणिवि निउ जम पलु ॥२॥
सिरि वद्धमाणु पुर अत्थि नयह तहि मयइ नरवइ धम्म पवह
तहि वसइ सु सावगु उसहसणु अणुदिण जसु मणि जिणनाह वयणु ॥३॥

तम्भज्ज वीरमइ कुक्खि-जाय दो पवर पुत्त तह इक्क धूम।
सहदेव वीरमसाभिहाण रिसिदत्त पुत्ति गुण-गण पहाण ॥४॥
अंत — तेरस सय अट्ठवीसे-वरिसे सिरि जिणपहुप्पमाभेण
श्रेसा सधी विहिया जिणिंद-वयणानुसारेण ॥७१॥
श्रीनमदासु दरी-महासती-स धि समाप्ता ॥

(७) अवंति-सुकमाल सधि

(८) स्थूलिभद्र स धि

विस्तार— कडव २ गाथा १३+८
आदि— मड विहार पायारह मोहिउ
वर मन्दिर पवर पुर अमरनाहु पिक्खवि मोहिउ
इय श्रेरिसु पाडलिय पुरु जबूदीव विक्खाउ
करइ रज्जु जिय सत्तु तहि नदु महाबलु राउ ॥१॥
अंत — कोवि गिय ताणु तविण सोसइ कुवि अरन वण निवसमे
पिय कोवि विर सवालु भक्खइ सावि तुय आस कमे
जो वेस घरि चउ मासि निवसइ सरस भोयण सित्तउ
तसु थूलभद्द छ (ह) पायम्र णमउ जिणि मयण तुहुँ जित्तउ

विशेष— ऊपर उल्लिखित समस्त रचनायें पाटण के जैन भण्डारों में हैं। इनका विवरण बड़ोदा के गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज में प्रकाशित पाटण भण्डारों के सूचीपत्र में दिया गया है। ऊपर जो उद्धरण दिए गए हैं वे भी वहीं से लिये गये हैं। इस सूचीपत्र में पृष्ठ ६८ पर अनाथि स धि और जीवानुशास्ति स धि नामक दो और सधियों के उल्लेख हैं, परन्तु उनके साथ उद्धरण नहीं होने से यह नहीं बताया जा सकता कि वे नं० १ और २ से भिन्न हैं या अभिन्न।

(९) भावना-सन्धि

विस्तार— कडवक ६ गाथा ६२
कर्त्ता— जयदेव, शिवदेव सूरि शिष्य
आदि— पणमवि गुण सायर भुवण-दिवायर जिण चउवीस वि इक्कमणि
अप्प पडिबोहइ मोह निरोहइ कोइ भव्व भावय वणिणु ॥१॥

र जीव निसुणउ चचल सहाव मिलहेविणु सयल विवायभावु
नवमेय परिग्गह विहव जालु स सागि इत्थ सहु इ दियालु ।।२।।

अत— निम्मलगुण भूरिहिं सिवदेवसूरिहिं पत्म सीसु जयदेव मुणि
किय भावण स धो भावु सुबधी णिसुणहु भ नवि धरउ मणि ।।६२।।

इति श्रीमावना स धि समाप्ता

प्राप्तिस्थान— हमारे स ग्रह में स ० १४६३ के लिखित गुटके म ।

विशेष— यह स धि जनयुग वष ४, के पृष्ठ ३१४ पर प्रकाशित भी हो चुकी है। उसी पत्रिका के पृष्ठ ४६६ पर इसके सम्बन्ध म श्रीयुत मधुसूदन मोदी का प्रेक लेख भी प्रकाशित हुआ है ।

(१०) शील सधि

विस्तार— गाथा ३४

कर्त्ता— जयसिंघर सूरि शिष्य

आदि— सिरि नेमि-जिणदह पणय-सुरिंदह पय पकय समरेवि मणि
वम्मह-उरि-कीलह कय-सुह सीलह सीलह स धव करिस हउ ।।१।।

अत— इय सीलह स धी अइय सुबधी जयसेहर-सूरि-सीस कय
भवियह निसुणेविणु हियइ धरेविणु सील-धम्मि उज्जम करहो । २।।

इति शील-स धि समाप्त ।।

प्राप्तिस्थान— हमारे स ग्रह मे उक्त स ० १४६३ के लिखित गुटके मे ।

(११) तव-स धि

कर्त्ता— सोमसुन्दर सूरि शिष्य-राजराज-सूरि शिष्य

आदि— सिरि-सोमसु दर-गुरु-पुरन्दर पाय पकय हसम्रो ।
सिरि विसाल-राया-सूरि-राया-चदगच्छवसमो
पय नमीय सीसइ तासु सीसइ अस सधी विनिम्मिम्रा
सिव सुक्ख कारण दुह निवारण तव उवम्रसिइ धम्मिम्रा

लेखनकाल — स० १५०५

प्राप्ति स्थान— पाटण का भण्डार

(१२) उपदेश-सधि

विस्तार— गाथा १४

कर्त्ता— हमसार

प्रत— उवझेस संधि निरमल बंधि हमसार इम रिसि करए
जो पढइ पढावइ सुह मणि भावइ बसुह सिद्धि वृद्धि लहए

(१३) चउरण संधि

विस्तार— कडवक ५

विषय— चार शरणो का वर्णन

विशेष विवरण— पिछली तीन कृतियों का उल्लेख जैन गुर्जर कविओ, भाग १ मे पृष्ठ ७६ और ८३ पर हुआ है। नम्बर ११ और १२ की भाषा अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।

अपभ्रंशोत्तर राजस्थानी आदि भाषाओं के संधिकाव्य

अपभ्रंश की संधिकाव्यो की परंपरा को भाषा-कवियो ने चालू रखा। हमारी शोध से कोई ४० ऐसी रचनाओं का पता लगा है जिनकी नामावली आगे दी जाती है। ये चौदहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक की हैं।

चौदहवीं शताब्दी

१ आनन्द-संधि	गाथा ७५	विनयचन्द्र		हमारे संग्रह में
२ कगो गौतम संधि	गाथा ७०			,,

सोलहवीं शताब्दी

३ मृगापुत्र संधि	—	कल्याणतिलक	१५५० लग०	हमारे संग्रह में
४ नदन मणिहार संधि		चारुचद्र	१५८७	,,
५ उदाह राजर्षि संधि		संयममूर्ति	१५६० लग०	जैन गुर्जर कविओ
६ गजसुकमाल संधि गाथा	७०	,,	१५६०	,,
७ ,,		मूलप्रभ	१५५३	,,
८ धना संधि	गाथा ६५	कल्याणतिलक	१५६० लग०	हमारे संग्रह में

सत्रहवीं शताब्दी

९ सुखदुख विपाक संधि		धममेरु	१६०४	जयपुर भण्डार
१० सुबाहु संधि		पुण्यसागर	१६ ४	हमारे संग्रह मे
११ चित्रसंभूति संधि	गाथा १०६	गुणप्रभसूरि	१६(०)८ अश्विन वदि ६ गुरु जेसलमेर में रचित	

१२ अजुन माली स धि		नयरग	१६२१	जेसलमेर भण्डार
१३ जिनपालित—				
जिनरक्षित सु धि		कुशललाभ	१६२१	वृहद् ज्ञानभडार
१४ हरिकेशी स धि		कनकसोम	१६४०	,,
१५ स मति स धि	गाथा १०६	गुणराज	१६३०	हमारे स ग्रह मे
१६ गजसुकमाल स धि	गाथा ३४	मूलावाचक	१६२४	जन गुजर कवियो
१७ चउसरण				
प्रकीर्णक स धि	गाथा ६१	चारित्रसिंह	१६३१	जसलमेर भण्डार
१८ भावना स धि		जयसोम	१६४६	हमारे स ग्रह म
१९ अनाथी स धि		विमल विनय	१६४७	,
२० कयवन्ना स धि		गुणविनय	१६५१	बृहद् ज्ञान भडार
२१ नदिषेण सधि		दानविनय	१६६५	हमारे सग्रहमे
२२ मृगपुत्र स धि		सुमतिकल्लोल	१६६३	बृहद्ज्ञान भडार
२३ आनद स धि		श्रीसार	१६८४	जेसलमेर भडार
२४ केशी गोयम स धि		नयरग	१७ वी शताब्दी	हमारे स ग्रह म
२५ नमि स धि	गाथा ६९	विनय (समुद्र)		बृहद् ज्ञान भडार
२६ महाशतक स धि		धमप्रबोध	,	हमारे स ग्रह म

अठारहवी शताब्दी

२७ कडरीक				
पु डरीक स धि	—	राजसार	१७०३	जेसलमेर भंडार
२८ जयति स धि		अभयसोम	१७२१ माह	हमारे स ग्रह मे
२९ भद्रनद स धि		राजलाभ	१७२२	श्री पूजजीका स ग्रह
३० प्रदेशी स धि		कनकविलास	१७२५	हमारे स ग्रह म
३१ हरिकेशी स धि	—	सुमतिरग	१७२७	
३२ चित्रस भूतिस धि	गाथा ३९	नयप्रमोद	१७२९	वृहद् ज्ञान भडार
३३ चित्रस भूति स धि	गाथा १०६	गुणप्रभसूरि	१७२९	जेसळमर भडार
३४ इषुकार स धि		खेमो	१७४५	हमारे स ग्रह में
३५ अनाथी स धि		,,	,,	,

३६ थावच्चा स धि	श्रीदेव	१७४९	वृहद् ज्ञानभडार
३७ भरत स धि	वे० पद्मचद्र	१८ वीं शताब्दी	जेसलमेर भडार
३८ मृगापुत्रस धि	जिन हर्ष	,,	
	उन्नीसवीं शताब्दी		
३९ प्रदेशी स धि	जेमल	१८११	हमारे स ग्रह में
	अज्ञातकाल		
४० च दनबाला सधि			(जिनविजयजी के
४१ जिनपालित			पत्र में उल्लेख)
जिनरक्षित स धि	मुनिशील		वृहद् ज्ञानभडार
४२ सुबाहु सधि --	मेघराज		लींवडी भडार

बारहमासा सज्ञक रचनाए

ऋतुओं के सौन्दर्य को देखकर और उन पर गीतो का सजन आधुनिक साहित्य की देन नही अपितु वदिक युग की प्राचीन परपरा है। वेदों में प्रकृति का सुरम्य वर्णन मिलता है अथववेद म तो अनकों स्थानों पर इस प्रकार का वर्णन मिलता है जिनमें प्रकृति का बडा ही सुदर चित्रण हुआ है। कई एक स्थानों पर तो छ ऋतुओ का भी उल्लेख हुआ है। कालातर मे इ ही ऋतुओं में अनेकों उत्सवों त्योहारो का समावश करके इनकी मानता को अक्षुण्ण रखा गया। उन ऋतुओं और त्योहारों पर गीत बने, काव्योंका सजन हुआ।

वसे तो प्रत्येक ऋतु दो माह की और वष म १२ महीन होते हैं। इन बारह महीनों म प्रकृति बदलती रहती है। मानव और प्रकृति का अ यो याश्रय सम्बन्ध होने के कारण सयोग और वियोग म उसे ये प्रकृति ज य परिवतन किस प्रकार लगत है इस भाव क अनेकों वणन साहित्य जगत मे षड ऋतु वणन और बारहमासा वर्णन के रूप में विख्यात हैं। डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने अगविज्जा की भूमिका मे लिखा है कि इस ग्रथ का १२वा पटल महत्वपूर्ण है क्योंकि इसम छ और बारह महीनो के क्रम से प्रकृति म होने वाले वृक्ष वनस्पति पुष्प सस्य ऋतु आदि क परिवतन गिनाए गय है। उदाहरण के लिए फाल्गुन महीने के सम्बन्ध मे कहा है — फाल्गुन मास म नर नारियों क मिथुन मिलकर उत्सव मनाते हैं और मुदित होते है। उस समय शीत हट जाता है और कुछ उष्णभाव आ जाता है। जिस समय आम्र मजरी निकलती और कोयल शब्द करती है उस समय गाने बजाने और हसी खुशी के साथ स्त्री पुरुष आपानक प्रमोद में मस्त होकर नाचने लगते हैं झूमने लगते हैं। स्त्री पुरुषों के मिथुन मथुन कथा प्रसगों मे लगे हुए नाना भांति से अपना मडन करते है उसका नाम फाल्गुन मास है। इन ४२ श्लोको को अपने साहित्य का सबसे प्राचीन बारहमासा कहा जा सकता है (पृ २४३ २४४) अग्रवाल जी ने अगविज्जा को चौथी शताब्दी की रचना माना है। इससे बारहमासा वर्णन की परपरा चौथी शताब्दी तक पहुँच जाती है।

श्रीयुत नामवरसिंह के हिन्दी के विकास में अपभ्र श का योग'' नामक ग्र थ के

पृष्ठ २०३ में बारहमासो की परपरा अपभ्र श से नहीं मिलती, यह हिन्दी की अपनी विशेषता है बतलाते हुए लिखा गया है —

अपभ्र श की कई प्रवृतिया बगला, मराठी, गुजराती आदि साहित्यो मे विशेष स्फुट हुई और हि दी मे नहीं हुई। इसी प्रकार हि दी काव्य म भी अनेक बातें जो अपभ्र श से अभी तक सम्बद्ध नहीं की जा सकी उदाहरण स्वरुप "बारहमासा"। अपभ्र श में सस्कृत आदि की तरह षट ऋतु वर्णन तो मिलता है, पर बारहमासा नही मिलता। यह हि दी की अपनी विशेषता है।

वास्तव में श्रीनामवरसिहजी का कथन सही नही है। श्वेताम्बर अपभ्र श साहित्य की ओर ध्यान न जान के कारण ही उनको इस सम्ब ध की जानकारी न हो सकी। अन्यथा आज से ३३ वष पूव सन् १९२० मे सेन्ट्रल लाइब्रेरी बडोदा से प्रकाशित व स्व० मोहनलाल दलाल द्वारा सम्पादित प्राचीन 'गुजर काव्य सग्रह' नामक ग्रथ के पृष्ठ में नेमिनाथ चतुष्पदिका' सनक विनयच द्रसूरि की जो रचना प्रकाशित हुई है व वास्तव में नेमिनाथ बारहमासा ही है। चौपाई छद मे रचे गये जाने के कारण उस सज्ञा 'बारहमासा न देकर 'चतुष्पदिका रख दी गई है। इस रचना के प्रारंभिक दो नीचे दिए जा रहे है जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा —

'सोहगसु दरु घणलायन्नु सुमरवि सामिउ सामलवन्नु
सखि पति राजल चढि उत्तरिय बारमास सुणि जिम वज्जरिय ॥१॥
नेमि कुमरु सुमरवि गिरनारो, सिद्धि राजल कन कुमारी ॥
आंकणी ॥

श्रावणि सरवणि कडुय मेहु, गज्जइ विरहरि झिज्झई देहु।
विज्ज झबक्कई रक्खसि जेव, नेमिहि विणु सहि सहियइ केव ॥२॥

इसके प्रारंभिक पद्य मे नमिराज जी के बारहमास रचे जाने का उल्लेख है ही। दूसरे पद्य में श्रावण मास मे वर्षा का वणन दिया गया है। इस रचना के कुल ४० पद्य हैं जिन मे ३५ पद्यों तक में आषाढ मास का वणन राजमती के विरह रूप में पाया जाता है। सन् १९२६ में प्रकाशित स्व० मोहनलाल दलीच द देसाई क जन गुजर कवियो के प्रथम भाग में इसका विवरण (आदि अत) देते हुए इसे मुनि जिनविजय जी ने "जन श्वेताम्बर कॉन्फ्रेस हेरल्ड में भी प्रकाशित किया था। इसके रचयिता विनयचन्द्र सूरि, रत्नसिंह सूरि

बारहमासा सञ्ज्ञक रचनाएं

ऋतुओं के सौंदर्य को देखकर और उन पर गीतों का सृजन आधुनिक साहित्य की देन नहीं अपितु वैदिक युग की प्राचीन परंपरा है। वेदों में प्रकृति का सुरम्य वर्णन मिलता है अथर्ववेद में तो अनेकों स्थानों पर इस प्रकार का वर्णन मिलता है जिनमें प्रकृति का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। कई एक स्थानों पर तो छः ऋतुओं का भी उल्लेख हुआ है। कालान्तर में इन्हीं ऋतुओं में अनेकों उत्सवों त्यौहारों का समावेश करके इनकी मानता को अक्षुण्ण रखा गया। उन ऋतुओं और त्यौहारों पर गीत बने काव्यों का सृजन हुआ।

वैसे तो प्रत्येक ऋतु दो माह की और वर्ष में १२ महीने होते हैं। इन बारह महीनों में प्रकृति बदलती रहती है। मानव और प्रकृति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होने के कारण संयोग और वियोग में उसे ये प्रकृति जन्य परिवर्तन किस प्रकार लगते हैं इस भाव के अनेकों वर्णन साहित्य जगत में षड् ऋतु वर्णन और बारहमासा वर्णन के रूप में विख्यात हैं। डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने अंगविज्जा की भूमिका में लिखा है कि इस ग्रंथ का १२वां पटल महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें छः और बारह महीनों के क्रम से प्रकृति में होने वाले वृक्ष, वनस्पति, पुष्प सस्य ऋतु आदि के परिवर्तन गिनाए गये हैं। उदाहरण के लिए फाल्गुन महीने के सम्बन्ध में कहा है — फाल्गुन मास में नर नारियों के मिथुन मिलकर उत्सव मनाते हैं और मुदित होते हैं। उस समय शीत हट जाता है और कुछ उष्णभाव आ जाता है। जिस समय आम्र मंजरी निकलती और कोयल शब्द करती है उस समय गाने बजाने और हंसी खुशी के साथ स्त्री पुरुष आपानक प्रमोद में मस्त होकर नाचने लगते हैं झूमने लगते हैं। स्त्री पुरुषों के मिथुन मथुन कथा प्रसंगों में लगे हुए नाना भांति से अपना मंडन करते हैं उसका नाम फाल्गुन मास है। इन ४२ श्लोकों को अपने साहित्य का सबसे प्राचीन बारहमासा कहा जा सकता है (पृ २४३ २४४) अग्रवाल जी ने अंगविज्जा को चौथी शताब्दी की रचना माना है। इससे बारहमासा वर्णन की परंपरा चौथी शताब्दी तक पहुँच जाती है।

श्रीयुत् नामवरसिंह के 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' नामक ग्रन्थ

पृष्ट २०३ में बारहमासों की परंपरा अपभ्रंश से नहीं मिलती, यह हिंदी की अपनी विशेषता है बतलाते हुए लिखा गया है —

अपभ्रंश की कई प्रवृत्तियां बंगला, मराठी, गुजराती आदि साहित्यों में विशेष स्फुट हुई और हिंदी में नहीं हुई। इसी प्रकार हिंदी काव्य में भी अनेक बातें जो अपभ्रंश से अभी तक सम्बद्ध नहीं की जा सकी उदाहरण स्वरूप "बारहमासा"। अपभ्रंश में संस्कृत आदि की तरह षट ऋतु वर्णन तो मिलता है, पर बारहमासा नहीं मिलता। यह हिंदी की अपनी विशेषता है।

वास्तव में श्रीनामवरसिंहजी का कथन सही नहीं है। श्वेताम्बर अपभ्रंश साहित्य की ओर ध्यान न जाने के कारण ही उनको इस सम्बन्ध की जानकारी न हो सकी। अन्यथा आज से ३३ वर्ष पूर्व सन् १९२० में सेन्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा से प्रकाशित व स्व० मोहनलाल दलाल द्वारा सम्पादित प्राचीन 'गुर्जर काव्य संग्रह' नामक ग्रंथ के पृष्ठ ८ में नेमिनाथ चतुष्पदिका' सत्तक विनयचंद्रसूरि की जो रचना प्रकाशित हुई है वह वास्तव में नेमिनाथ बारहमासा ही है। चौपाई छंद में रचे गये जाने के कारण उसकी संज्ञा 'बारहमासा' न देकर 'चतुष्पदिका' रख दी गई है। इस रचना के प्रारंभिक दो पद्य नीचे दिए जा रहे हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा —

सोहगसुंदर घणलायन्नु सुमरवि सामिउ सामलवन्नु
सखि पति राजल चडि उत्तरिय बारमास सुणि जिम वज्जरिय ॥१॥
नेमि कुमरु सुमरवि गिरनारी, सिद्धि राजल कन्न कुमारी ॥
आखिणी ॥

श्रावणि सरवणि कडुय मेहु, गज्जइ विरहरि खिज्झइ देहु।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव, नेमिहि विणु सहि सहियइ केव ॥२॥

इसके प्रारंभिक पद्य में नेमिराज जी के बारहमास रचे जाने का उल्लेख है ही। दूसरे पद्य में श्रावण मास में वर्षा का वर्णन दिया गया है। इस रचना में कुल ४० पद्य हैं जिनमें ३५ पद्यों तक में आषाढ मास का वर्णन राजमती के विरह रूप में पाया जाता है। सन् १९२६ में प्रकाशित स्व० मोहनलाल दलीचंद देसाई के जैन गुर्जर कवियों के प्रथम भाग में इसका विवरण (आदि अंत) देते हुए इसे मुनि जिनविजय जी ने "जैन श्वेताम्बर कॉन्फ्रेंस हेरल्ड" में भी प्रकाशित किया था। इसके रचयिता विनयचन्द्र सूरि, रत्नसिंह सूरि

के शिष्य थे। इनके रचित कल्पसूत्र की टीका का समय वि० स० १३२५ है इसलिए इस रचना का समय भी १४ वी शताब्दी का प्रारभ ही समझना चाहिए।

इसके पश्चात सन् १९३७ म गायकवाड ओरियटल सीरिज से प्रकाशित पट्टनस्थ प्राच्य जन भाण्डागारीय ग्र थ सूची का प्रथम भाग पन्ना के ताड पत्रीय प्रति परिचय के रूप में प्रकाशित हुआ। पडित लालचद भगवानदास गाधी ने इसको वर्तमान रूप दिया। इस ग्रथ के पृष्ठ १७० मे 'धम सूरि स्तुति' नामक अपभ्र श रचना की प्रारभिक नवगाथाएँ और अत की ४० ५० तक की १० गाथाए उद्धृत हैं। वास्तव म इस रचना का नाम "बारह नावउ" है जो कि रचना के अत म लिखा मिलता है और कृति की पहली पक्ति में भी जिसका निर्देश है। प० लालचन्द गाधी ने भी धम सूरि स्तुति के आग ब्राकिट में (बारह नावउ द्वादश मास अपभ्र श) शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दिया है। अभी तक प्राप्त बारह मासा म अपभ्र श की यह रचना सबस प्रसिद्ध है।

इस रचना में जिन धम सूरि की स्तुति की गई है वे बडे प्रभावक आचाय थे। साकभरि क चौहान अजयपाल और विग्रहराज इनके भक्त थे। विग्रहराज ने ता इनके उपदेश से जन मन्दिर भी बनाया था। यह पाटन भडार म उपयु क्त धमसूरि स्तुति से पूव रविप्रभ सूरि रचित धमघोष सूरि स्तुति प्रकाशित हुई है उससे स्पष्ट है। अतएव इस बारहनावउ का रचनाकाल १३ वा शताब्दी का प्रारम्भ सुनिश्चित है और इसमे बारहमासा सनक भाषा का यो की परम्परा ८०० वष पुरानी सिद्ध हो जाती है।

जन कवियो के रचित शताधिक बारहमास मेरे सग्रह म सुरक्षित हैं। इन बारह मासों का स्वर्गीय मोहनलाल दलीच द देसाई ने बडी लगन क साथ सग्रह किया था। इनमे तीन चौथाई बारहमासे तो २२ वें तीथकर नेमीनाथ और राजीमति स सम्बन्धित है। दो ऋषभ देव एक पाश्वनाथ पाच स्थूलिभद्र दो ग्र थ जनाचाय एक बारह ब्रह्म एक मूलिबाई से सम्बन्धित और कुछ सामा य बारहमासों के वणन क रूप म हैं। उनम १२ महीने में से किसी कवि ने चत्र से किसी ने आषाढ श्रावण म किसी ने वशाख मिगसर से तो किसी ने कार्तिक और किसी ने फाल्गुन से वणन प्रारम्भ किया है। अर्थात् भिन्न भिन्न कवियों ने अपनी रुचि के अनुसार किसी ने फाल्गुन स वणन प्रारम्भ कर दिया है। ये बारहमासे १३ गाथाओं से लगाकर ८० पद्यों तक म विस्तृत काव्य है।

जन कवियों ने बारहमासे १३ वी शताब्दी स प्रारम्भ होकर प्रत्येक शताब्दी के मिलते है। १३ वी १ चौदहवी के २ प द्रहवी के २ और सोलहवी के चार बारहमासे

मिल चुके हैं। १७ वी शताब्दी से इनकी संख्या १८ वी और १९ वी शताब्दी तक बराबर बढ़ती जाती है। बीसवी शताब्दी में यह धारा मंद अवश्य पड़ जाती है पर समाप्त नहीं होती।

१३ वीं और १४ वी के प्रारम्भ के दो जैन बारहमासो का विवरण ऊपर दिया गया है। इनके पश्चात १४ वीं के उत्तरार्द्ध का एक "नेमिनाथ बारहमासा रासो" अपूर्ण प्राप्त हुआ है जिसका रचयिता पल्हणु नामक कोई कवि है। इसके पौने सात पद्य ही मिले है। जिनमें श्रावण से पोष महीने तक का वर्णन आता है। इसका एक पद्य नीचे दिया जा रहा है —

कासमीर मुख मंडण देवी वाएसरि पाल्हणु पणमेवी।
पदमावतिय चक्केसरि नमिउ, अंबिका देवी हडवीनवउ।
चरिउ पयासउ नमि जिण केरउ, कवितु गुण धम्म निवासो।
जिम राइमइ विओगु भओ बारहमास पयासउ रासो॥

इस बारहमासे की प्रति १५ वी शताब्दी के प्रारम्भ की लिखी हुई होने से मैंने इसका रचना समय १४ वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है। संभव है वह उससे और भी पहले का हो।

१५ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के कवि हीरानंद सूरि का 'स्थूलिभद्र बारहमास ३० पद्यों का है जिसमें स्थूलिभद्र के विरह में कोश्या को जो अनुताप हुआ उसका वर्णन मार्गशीर्ष मास से किया गया है। तीसरे पद्य से २६ वें तक १२ महीनो का वर्णन है। प्रारंभिक दो पद्य इस प्रकार हैं —

सरसति २ सामणि समरीईए। पामीय २ स गुरु पसाउकि।
गाइ २ सुसील सोहामीणए। थूलिभद्र २ मुनिवर राउकि।
सरसति सामणि समरीइए॥१॥
समरीयइ सरसति सगुरु आणि। थूलिभद्र वर्णणीय।
सिगडाल सा छिलदेइ नन्दन पाडलीपुर जाणीयइ।
वरस बार कोडि यारई, वेसिसु विलसी करी।
मास मार्गसिर संजम लीयउ कोस हीयडइ गहबरी॥२॥

इन्ही हीरानन्द सूरि का नेमिनाथ बारहमासा मिलता है।

१५ वी के अन्त या १६ वी के प्रारम्भ का एक 'नेमिनाथफाग' के नाम से बारहमासा मिला है। जिसमे आषाढ से जेठ तक के विरह का वर्णन है। स० १५३५ लिखित इसकी एक प्रति स्व० देसाई को मिली थी, जिससे नकल करके जैन युग' वर्ष ५ पृष्ठ ४७५ में उन्होने इसे प्रकाशित किया था। उनके अनुसार इसके रचयिता 'डूगर' कवि हैं और पद्य सख्या २६ है। हमारे सग्रह म स० १५८६ की लिखित इसी बारहमासा की प्रति है। इसम पद्यो की सख्या २२ और रचयिता का नाम का ह दिया है। इसके तीन प्रारंभिक पद्य नीचे उद्धृत किए जाते है —

अहे तोरणि वालभ अविए यादव कुल कप्वचद।
अहे पशुय दखि रथ वालिउ दह दसि हुँउहु विछ द ।।१।।
अहे निसी अघारि एकलो मधुरे वासर मोर।
विरह सतावयि पापियो वालभ हिईं कठोर ।।२।।
अहे धरि आषाढ उनयु गौरि नयणे नेह।
नीट राजिवुन पापिउ छानो वरसि न मेह ।।३।।

बारहमासा काव्य एक तरह स लोक काव्य है। जनता मे इसका खूब प्रचार रहा। जनेतर कवियों ने भी अनेक बारहमासे बनाए पर उनम जन विद्वानो की तरह लिखने और सरक्षण की परिपाटी न रहने के कारण उनकी रचनाएँ बहुत कम सुरक्षित रह सकी। प्राचीन बारहमास तो जनेतर कवियो के मिलते ही नहीं हैं। जैनेतर कवियों के राजस्थानी गुजराती और हिन्दी तीनों भाषाओ के साहित्य की मुझे जो कुछ जानकारी है उसके आधार पर मेरा विचार है कि १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही बारहमासे मिलते हैं। जहा तक हिन्दी साहित्य का प्रश्न है सभवत जायसी के पहिले किसी के बारहमासों का वर्णन प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार राजस्थानी जनेतर साहित्य मे भी यथास्मरण 'माधवानल कामकदला' काव्य मे सवप्रथम बारह महीनों का विरहवर्णन मिलता है। ये दोनों ग्रथ १६ वीं के उत्तरार्द्ध के हैं। स्वतन्त्र बारहमासों की उपलब्धि (जनतर कवियों के रचित) १७ वीं शताब्दी मे ही होती है। इन सब बारहमासों का प्रधान विषय नायिका द्वारा अपने पति के वियोग मे बारह महीनों म जो विरह दुख का अनुभव होता है उसी का व्यक्तिकरण है। कुछ काव्य (सतो आदि के) इसके अपवाद म भी रखे जा सकते हैं।

संतो के रचित बारहमासो के संबंध में संत साहित्य के अध्ययनशील विद्वान परशुराम चतुर्वेदी ने अपने संत काव्य नामक ग्रंथ की भूमिका में महत्वपूर्ण विवरण दिए हैं।

जसा मैंने ऊपर कहा है सोलहवी के उत्तरार्द्ध से हिन्दी में बारहमासों का वर्णन मिलने लगता है और स्वतंत्र रूप से बारमासा काव्य १७ वीं से मिलते हैं। हिन्दी के प्राप्त बारहमासो में से करीब २० अज्ञात बारहमासो का विवरण मैंने अपने राजस्थान में हस्त लिखित ग्रंथों की खोज के चतुर्थ भाग में दिया है जो प्रकाशित हो चुका है। इनमे कुछ जैन कवियों के हैं, कुछ जैनतर हिन्दू और कुछ मुसलमान कवियो के भी हैं। ज्ञात हिंदी बारहमासों में गंग कवि का बारहमासा स्वतंत्र हिंदी बारहमासो में सबसे प्राचीन है। गंग कवि सम्राट अकबर का मान्य कवि था। इसका यह बारहमासा अनूप संस्कृत पुस्तकालय की कथी लिपी में कुतुबन की मृगावती की प्रति के अन्त में लिखा मिला है। इसके पश्चात केशवदास सुन्दर, रूप, बिहारी, वृंद भान आदि अनेक कवियों के बारहमासे मिलते हैं, पर वे २५ ३० पद्यों से बडे नहीं हैं जबकि मुसलमान कवियों मे बुल्लासाह, हामद काजी महम्मद पुरमही, अहमद खरासाह मिनमत आदि के बारहमासों में कुछ १२२ पन्नों तक के बडे बारहमासे भी मिले हैं। जैन कवियों के हिंदी में रचित बारहमासों में १८ वीं शताब्दी के सुकवि विनयचन्द्र का नेमिनाथ बारहमासा बहुत ही सुंदर है इसे करीब २० वर्ष पूर्व हमने श्वेताम्बर जैन पत्र मे प्रकाशित किया था। इसमें भाषा का प्रवाह और प्राकृतिक दृश्यो का वर्णन बहुत ही सजीव बन पाया है। जिनहर्ष लक्ष्मीवल्लभ केशवदास आदि जैन कवि भी १७ वीं शती के हैं जिनके बारहमासे मिले हैं। जैन कवियों में श्वेताम्बर कवियों की रचनाएँ राजस्थानी या गुजराती में अधिक हैं इसलिये श्वेताम्बर कवियों के हिन्दी बारहमासे कम मिले हैं। दिगम्बर कवियो ने हिन्दी भाषा को अधिक अपनाया है क्योंकि उस संप्रदाय का प्रचार केन्द्र हिंदी भाषा भाषी क्षेत्र में अधिक रहा है जब कि श्वेताम्बर संप्रदाय का प्रचार राजस्थान और गुजरात में अधिक है। दिगम्बर कवियों के हिन्दी बारहमासो में से कुछ जिनवाणी संग्रह आदि में प्रकाशित हो चुके है पर अभी उनका प्रयत्न पूर्वक संग्रह किया जाना आवश्यक है जिससे उनकी संख्या आदि का ठीक पता लग सके।

इही हीरानन्द सूरि का नेमिनाथ बारहमासा मिलता है।

१५ वीं के अंत या १६ वीं के प्रारंभ का एक 'नेमिनाथफाग' के नाम से बारहमासा मिला है। जिसमें आषाढ़ से जेठ तक के विरह का वर्णन है। सं० १५२५ लिखित इसकी एक प्रति स्व० नेमाई को मिली थी, जिससे नकल करके जैन युग' वर्ष ५ पृष्ठ ४७५ में उन्होंने इसे प्रकाशित किया था। उनके अनुसार इसके रचयिता 'डूंगर' कवि हैं और पद्य संख्या २६ है। हमारे संग्रह में सं० १५८६ की लिखित इसी बारहमासा की प्रति है। इसमें पद्यों की संख्या २२ और रचयिता का नाम का ह दिया है। इसके तीन प्रारंभिक पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं —

अहे तोरणि थालभ अविणि यादव कुल कग्वचंद।
अहे पशुय दखि रथ वालिउ दह दसि हुँवहु विछु द ।१।
अहे निसी अंधारि एकली मधुरे वासर मोर।
विरह सतावयि पापियो, बानभ हिई कठोर ।।२।।
अहे धरि आषाढ उनयु गौरि नयलो नह।
गोढ गाजियुन पापिव छानो वरसि न मह ।।३।

बारहमासा काव्य एक तरह रा लोक काव्य है। जनता में इसका खूब प्रचार रहा। जनेतर कवियों ने भी अनेक बारहमासे बनाए पर उनमें जैन विद्वानों की तरह लिखने और संरक्षण की परिपाटी न रहने के कारण उनकी रचनाएँ बहुत कम सुरक्षित रह सकी। प्राचीन बारहमासे तो जनेतर कवियों के मिलते ही नहीं हैं। जनेतर कवियों के राजस्थानी गुजराती और हिन्दी तीनों भाषाओं के साहित्य की मुझे जो कुछ जानकारी है उसके आधार पर मेरा विचार है कि १६ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही बारहमासे मिलते हैं। जहां तक हिन्दी साहित्य का प्रश्न है संभवतः जायसी के पहिले किसी के बारहमासों का वर्णन प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार राजस्थानी जनेतर साहित्य में भी यथास्मरण 'माधवानल कामकंदला' का य में सर्वप्रथम बारह महीनों का विरहवर्णन मिलता है। ये दोनों ग्रंथ १६ वीं के उत्तरार्द्ध के हैं। स्वतन्त्र बारहमासों की उपलब्धि (जनेतर कवियों के रचित) १७ वी शताब्दी से ही होती है। इन सब बारहमासों का प्रधान विषय नायिका द्वारा अपने पति के वियोग में बारह महीनों में जो विरह दुःख का अनुभव होता है उसी का व्यक्तिकरण है। कुछ काव्य (सती आदि के) इसके अपवाद में भी रखे जा सकते हैं।

संतों के रचित बारहमासो के संबंध में संत साहित्य के अध्ययनशील विद्वान परशुराम चतुर्वेदी ने अपने संत का य नामक ग्रंथ की भूमिका में महत्वपूर्ण विवरण दिए हैं।

जसा मैंने ऊपर कहा है सोलहवीं के उत्तराद्ध से हि दी मे बारहमासो का वरणन मिलने लगता है और स्वत त्र रूप मे बारमासा का य १७ वी से मिलते हैं। हिन्दी के प्राप्त बारहमासो म स करीब २० अज्ञात बारहमासों का विवरण मैंने अपने राजस्थान में हस्त लिखित ग्रंथो की खोज क चतुथ भाग मे दिया है जो प्रकाशित हो चुका है। इनम कुछ जन कवियो के हैं, कुछ जनेतर हि दू और कुछ मुसलमान कवियो के भी हैं। ज्ञात हि दी बारहमासो म गग कवि का बारहमासा स्वत त्र हि दी बारहमासो म सबसे प्राचीन है। गग कवि साम्राट अकबर का मा य कवि था। इसका यह बारहमासा अनूप संस्कृत पुस्तकालय की कथी लिपी में कुतुबन की मृगावती की प्रति के अ त म लिखा मिला है। इसके पश्चात केशवदास सु दर, रूप, बिहारी, वृ द मान आदि अनेक कवियो के बारहमासे मिलते हैं, पर वे २५ ३० पद्यो मे बडे नही है जबकि मुसलमान कवियों म बुल्लासाह, हामद काजी महम्मद, पुरमही, अहमद खरामाह मिनमत आदि के बार,मासो म कुछ १२२ पद्यो तक के बडे बारहमासे भी मिले हैं। जन कवियों के हिन्दी म रचित बारहमासों मे १८ वी शताब्दी के सुकवि विनयचन्द्र का नेमिनाथ बारहमासा बहुत ही सु दर है इसे करीब २० वष पूव हमने श्वेताम्बर जन पत्र म प्रकाशित किया था। इसमें भाषा का प्रवाह और प्राकृतिक दृश्यो का वरणन बहुत ही सजीव बन पाया है। जिनहष लक्ष्मीवद्धन केशवदास आदि जन कवि भी १७ वी शती के हैं जिनके बारहमासे मिले हैं। जन कवियों में श्वेताम्बर कवियो की रचनाएँ राजस्थानी या गुजराती में अधिक हैं इसलिय श्वेताम्बर कवियो के हिन्दी बारहमासे कम मिले है। दिगम्बर कवियो ने हि दी भाषा को अधिक अपनाया है क्योकि उस सप्रदाय का प्रचार केन्द्र हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्र म अधिक रहा है, जब कि श्वेताम्बर सप्रदाय का प्रचार राजस्थान और गुजरात मे अधिक है। दिगम्बर कवियो के हि दी बारहमासा म से कुछ जिनवाणी सग्रह आदि में प्रकाशित हो चुके है पर अभी उनका प्रयत्न पूवक सग्रह किया जाना आवश्यक है जिससे उनकी सख्या आदि का ठीक पता लग सके।

फागु संज्ञक काव्य

आचाय हेमच द्र की दशीनाममाला में वसतोत्सव के लिय फग्गु' श-द का प्रयोग पाया जाता है जा बोलचाल की भाषा म फागु या फाग के नाम से प्रसिद्ध है। वसतोत्सव सम्ब-धी ऋतु के अभिनव उल्लास को प्रकट करने वाले विशिष्ट वणनात्मक, श-द सौष्ठव अथ-गामीय यमक और अनुप्रास आदि अलकारों से सुशोभित विशिष्ट गेय रचनाओं की स ना 'फागु' या फाग' दी हुई मिलती है। वस त ऋतु का प्रधान उत्सव फाल्गुन महीने मे होता है। उस समय नर नारी मिलकर परस्पर म एक दूसरे पर अबीर गुलाल आदि डालते हैं और जल की पिचकारियो मे क्रीडा करते हैं, उसे फाग खेलना कहते हैं। वस त ऋतु के उल्लास का जिसम कुछ वणन हो या उन दिनों में जो रचना गाई जाती हो उन रचनाओं की स ना फागु दी गई है। इसकी परम्परा तो काफी प्राचीन है पर स्वतन्त्र का यों के रूप मे अभी १४ वीं शता-दी के पूव की कोई रचना नही मिली। अद्यावधि उपल-ध रचनाओ मे सबसे प्राचीन जिनचदसूरि फागु है इसकी एकमात्र प्रति जसलमेर भण्डार से उपल-ध हुई है पर उसका म य भाग त्रुटित था। यह रचना २५ पद्यों की है पर छठे से २० पद्य के अ त वाला पत्र नही मिला। जिन प्रबोधसूरि के पट्टधर जिनचद्रसूरि खरतगच्छ के आचार्य थे। उनका समय स० १३४१ से से १३७६ तक का है। अत यह रचना इसी बीच की है। इसम आचाय श्री का वणन विशेष नहीं है। वस त वणन ही प्रधान है।

अरे दयडउ तवियउ पेक्खिवि म सहुण रतिपति नाहु।
अरे बोलावइ वसतु जसव्वहु रितुहु राउ ॥

अरे आगए तुह बलि जीतओ गोरव करउ वालमु।
अरे इसइ वचनु निसुणेविणु, आययउ रलिय वसतु ॥२॥

अरे पाडल वालउ वेउल, सवत्री जाइ मुचकुदु।
अरे कदु करणी राय चपक विहसिय केवडि विंदु ॥

अरे कमलहि कुमुदिहि सोहिया, मानस जवलि तलाय।
अरे सीयल कोमला सुरहिया वाइ दक्खिणा वाय ॥३॥
रे पुरि पुरि आंबुला मउरिया कोइल हरखिय देह।
अरे तहि हुए टहुक्ए बोलए मयण हवेरिय खेह ॥
अरे इसइ वसतिहि हूय ए माणुसके तियमात्र।
अरे अचेतन मे पाल्लिया, ति हु तणी जुतलिय आत्र ॥४॥

यह गय रचना है, इसका उल्लेख अन्त के पद्य इस प्रकार किया है—

श्रीजिन चद सूरि फागिहि, गायहि जे अति भावि।
ते वाउल अच पुरसला, विलसहि सिव सुह सावि ॥२५॥

इसकी परवर्ती रचना स्थूलिभद्र फागु है। जिसके रचयिता खरतर गच्छीय जिनपद्म सूरि हैं। जिनका समय स० १३८६ स १४०० तक था है। इसके प्रारम्भ म स्थूलिभद्र मुनि का वर्णन फागुबद्ध म किये जाने का उल्लेख होनेसे इन रचनाओं से विशिष्ट प्रकार की सूचना मिलती है। शब्द "फागुबद्ध" किसी छन्द और रचना के विशेष प्रकार के लिये रूढ प्रतीत होता है। इससे ऐसी रचनाओं की प्राचीन परम्परा का आभास मिलता है। अर्थात् इस समय तक इस छद या शैली की अनेक रचनाए बन चुकी थीं। कवि ने उनका अनुसरण किया है। इसमे वसत का वर्णन न होकर वर्षा का वर्णन बडा ही सु दर है। जिसका उद्धरण मैं अपने 'राजस्थानी साहित्य मे वर्षा वर्णन लेख मे द चुका हूँ। स्थूलभद्र जनाचाय थे। मुनि दीक्षा लने के पूव कोशा वश्या क रहा वे १२ वष रह चुके थ। चतुर्मास करन के लिए वे गुरुजी स आज्ञा लेकर कोशा क भवन म आते हैं और उसकी चित्रशाला म ठहरते हैं। इसी समय मघ बरसना शुरू होता है। इस प्रस ग स कवि ने वर्षा का वर्णन करके फिर कोशा क शृ गार करने का विस्तृत वर्णन किया है।

यह रचना गेय होन के साथ साथ नृत्य के सा । मेली जाती थी। इसका वर्णन कवि ने अ त के पद्य म कर दिया है—

खरतरगच्छी जिनपदमसूरि, किय फागु रमेवउ।
खेला नाचइ चत्रमासि रगिहि गावेवउ ॥

इसी समय की अन्य रचना मलधारी गच्छीय राजशेखर सूरि रचित नेमिनाथ

फागु है। यह भी २७ पद्यो की है। और फागुबंध' शैली म रचे जान का उल्लेख है। इसमे २२ वें तीथकर नमिनाथ न वसत ऋतु आने पर कृष्ण की रानियो के साथ जल क्रीडा आदि की उसका वणन है। अ त में फागुरमिज्जइ श०द स पाया जाता है। यह रचना भी नृत्य के साथ गाई जाती थी। उपयु क्त तीनो रचनाए १४ वी शताब्दी की हैं। का०य का दृष्टि स भी बहुत सु दर हैं। अब १८ वी शता दी की रचनाओ पर प्रकाश डाला जाता है। इन रचनाओ की एक विशिष्टता विशेषरूप स उल्लेख योग्य है कि इनमे शब्दालकार के साथ यमक व अनुप्रास की छटा दशत हो बनती है—

अणहिलवाडउ पाटण पाटण नयर जे दाउ,
वीसइ जिहा श्रीप्रजिणहर, मणहर सपय दाउ
(जऐ मृ० काव्यसचय देवरत्नसूरिफाग पृ १५१)

अहे पचवरम लगई लालीअ पालीअ अति सुकुमार,
तातइ उच्छव बहु कीउ मूकीउ सुत नेसाल ॥१४॥
(उपयुक्त हेमविमलसूरि फाग पृ १८७)

पहिलू सरसति अरचीसू रचीसू वसत विलास
वीण धरइ करि दाहिण वाहण हसलु जास ॥१।
पहुतीय तिहुणी हिव रति वरति पहुती वसत,
वहदिसि परसइ परिमल, निरमल थ्या नभ अत ॥२॥
(प्रा० गू० काव्य 'वसत विलास पृ० १५

वारिउ मोह मतगज, गजपति जग अवतस
जसु जस त्रिभुवनि धवलिय, विमलीय यादव वस।
(आत्मानद ज०म शता०दी स्मारक ग्रक नेमीश्वरचरित फागबध पृ०४७)

भाविय मास वसतक सत करइ उत्साह,
मलयानिल वहि वायउ आयउ काम गिदाह ॥१७॥
(फागुकाव्य' नर्तध)

समरवि त्रिभुवन सामणि कामणि सिरि सिणगार,
कवियण वयणिजा वरसइ सरसइ अमिउ अपार ॥१॥
(जीरापल्ली पावशनाथ फागु पृ० ६७)

यह शैली फागु सम्बन्धी सभी रचनाओं में नहीं अपनाई गई है। इस शैली की प्राथमिक स्थूलभद्र फागु में भी यह नहीं है और पिछली शैली की अन्य फागों में भी सर्वत्र इस शैली को नहीं अपनाया गया।

१५ वीं शताब्दी की फागु संज्ञक करीब १० रचनाएं मिलती हैं। जो काव्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इसी शताब्दी में अनुप्रास का प्रधानता प्रविष्ट हुई और माणिक्य सुन्दर सूरि का ६१ पद्यों जितना बड़ा काव्य भी बना। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रत्नमण्डल गणि ने तो 'रंगसागर नवरसनेमि फाग' तीन खण्डों में ११५ पद्यों का बनाया। उपलब्ध फागु काव्यों में यह सबसे बड़ी और विशिष्ट रचना है। इसमें संस्कृत श्लोक भी प्रचुरता से दिये हैं। "वसंत विलास' काव्य तो गुजरात में बहुत प्रसिद्ध है। वह भी सं० १५०० के लगभग की रचना है। १६ वीं शताब्दी में १५ फागु काव्य बने और १७ वीं में भी लगभग इतने ही। १८ वीं के प्रारम्भ में रचित राजहर्ष का नेमिनाथफाग फागु संज्ञक काव्यों में अंतिम रचना है। वैसे लघु रचना के रूप में महानंद रचित संजय फाग और नेमिफाग सं० १८०५ के लगभग की है। पर ये एक तरह से होली गीत ही समझिए।

वसंतोत्सव में फागु काव्यों की रचना के बाद 'धमाल' काव्यों का भी निर्माण होने लगा। दिगंबर सम्प्रदाय में अपभ्रंश में ढमाल पाई जाती है जिसका समय १६ वीं शताब्दी का होगा। पर श्वेताम्बर समाज में धमाल संज्ञक रचनाएं १७ वीं के प्रारम्भ से ही अधिक मिलती हैं। १८ वीं शताब्दी में इनका भी अन्तकाल आ जाता है और इसी शताब्दी से होरी संज्ञक छोटे छोटे गीत विशेष रूप से रचे जाने लगे। इस समय में हिन्दी भाषा का प्रचार श्वेताम्बर जैन कवियों में कुछ अधिक रूप से होने लगा। वैसे गेय पद तो १७ वीं शताब्दी से अधिकतर हिन्दी में ही रचे मिलते हैं। होरी संज्ञक गेय पदों की भाषा हिन्दी प्रधान है।

फागु और धमाल की छंद रागिनी एवं शैली में अंतर होगा, पर १७ वीं शताब्दी में जब धमाल संज्ञक रचनाओं का प्राचुर्य हुआ तो दोनों नाम एक ही रचना के लिये प्रयुक्त किये जाने लगे। जैसे— मालदेव के स्थूलभद्र धमाल को कहीं स्थूलभद्र फाग भी लिखा है।

'फाग' काव्य मूल रूप से गेय एवं दृश्य काव्य थे। पर १५, १६ वीं शताब्दी में जब अधिक पद्यों वाले यह काव्य विशिष्ट शैली में लिखे जाने लगे तो जनसाधारण से

वे कुछ दूर पडन लगे । गय रूप तो रहा होगा, पर उसके साथ नृत्य का सम्ब ध था वह इस समय कम हो गया लगता है । प्रमान काव्य छोटे और बडे दोनों प्रकार के मिलते हैं। छोटे म ८ और बडे म १०७ तक के पद्य वाले मिल हैं। हारी स नक प तो पाच सात पद्यों के ही रचे गय है । जन कवियो को समय-समय पर परिवतन करना पडा इसका प्रधान कारण उनका लोकरुचि क स थ अपनी रचनाओं का मल बिठाना है। ज्यों ज्यों लोक रुचि बदलती गया व अपना शली बदलते गय । फिर भी उनकी विशिष्टता सब समय कायम रही। फिर भी व लोक रुचि क साथ बह नही गय । फागु काव्यों में शृ गार रस का परिपाक नजर आता है पर उन्होंने सीमा का उल्लघन नहीं किया। और पाव एस चुने कि तीथकर आचाय आदि महापुरुषों म उन रचनाओं सम्बन्ध अविच्छिन्न रहे। जन पूणत ब्रह्मचारी होत हैं। अत अधिक शृ गारिक वणन करना उनके आचार विरुद्ध भा है। उ होंने अश्लीलता की ओर जान वाली लोक रुचि को धम, भक्ति एव ज्ञान की ओर प्रवाहित किया। उसक लिए गुलाल पिचकारी आदि सारे उपकरण वराग्य एव ज्ञान क रूपक बन गय।

सकल सजन मली मिलिहो खेलाए समकित ख्याल।
ज्ञान सुगन गाव गुनोरो, पियाइस सरस खुस्याल ॥१॥
खेलो सत हसत वसत मरो, अहो मेरा सजना राग सुफाग रमत रव ॥२॥

य रचनाएँ साधारण जन जनता क लिए ही बनायी हैं। मुनियों ने तो बना कर इन्हें श्रावकों के हाथों म सौंप दी। श्रावकों न ही इन्हें गाया, बजाया अभिनय किया। उसका रस एव लाभ साधारण जनता न ही उठाया। अत जनसाधारण क आनदोल्लास प्रकट करान म इनका बडा हाथ रहा है। इस दृष्टि म शिष्ट साहित्य होन पर भी इनकी गणना लोक साहित्य म भी की जा सकती है। वह निमाताओं क काम की उतनी नहीं। जनता क हृदय का आदानिन करना ही उनका उद्देश्य रहा है।

फागु काव्य जन रचन ओ की सूची

१४ वीं शताब्दी

(१) जिनचन्द्र सूरि फागु गा० २५ — अभय जन ग्र थालय

(२) स्थूलभद्र फागु गा० २७— जिनपद्म सूरि कर्त्ता — प्र० प्राचीन गु० काव्य सग्रह

१५ वी शताब्दी

* १ नमिनाथ फागु गा० २५— राजशेखर सूरि स० १४०५ लगभग प्र० सा० गु०
२ स्थूलभद्र फागु— हलराज स० १४०६
* ३ नेमिनाथ फागु— गा० १५ समधर स० १४३० स पूव — अभय जैन ग्रन्थालय
* ४ जम्बुस्वामी फागु— गा० ३ स० १४३० लगभग प्र० जन० सा० प्र०
* ५ जीरावलमा पाइवनाथ फागु गाथा ३० मेरुनन्दन स० १४३२ पाइवनाथ ।
६ नेमिनाथ फागु— जयसोम सूरि स० १४०२ से पूव
७ नेमिनाथ फागु बद चरित गा० ६१ माणक्य सु दर सूरि स० १४७८ प्र० आत्मानन्द शताब्दी स्मारक ग्र थ
८ स्थूलभद्र फागु— सोम सु दर सूरि स० १४८१
९ फागु— स० १४६५
१० देवरत्न सूरि फागु गा० ६५ स० १४६६ प्र० जन ऐ० गा० स चय
११ कीतिरत्न सूरि फागु ए० ज० का० स०
*१२ भरतेश्वर चक्रवर्ती फागु गा० २० स० १४६७ से पूर्व अभय जन ग्रन्थालय
*१३ पुरुषोत्तम पाच पाण्डव फागु गा० २४ स० १४६७ से पूव अभय जैन ग्र थालय
१४ वसन्त विलास— स्वतन्त्र ग्रन्थ
*१५ नेमिनाथ फागु प्रथम— कृष्णर्षीय जयसिंह सूरि प्राचीन फागु स ग्रह
*१६ नेमिनाथ फागु द्वितीय — ,, ,, ,, ,,
१७ नेमिश्वर चरित फाग— प्राचीन फागु स ग्रह

१६ वीं शताब्दी

१ नेमीनाथ फागु— (सुरगा विधान) धनदेव गणि स० १५०२
* २ नारि निरास फागु— (रतनागर नव रस) रत्नमण्डल स० १५१७ से पूव प्रकाशित
* ३ नेमी फागु— गा० ११५ रत्नमण्डन स० १५१७ के पूव प्रकाशित
* ४ नमिनाथ फागु— पद्म— स० १५१६
५ नेमीनाथ फागु— गा० ३१ डूगर स० १५३५ स पूव
६ नेमीनाथ फागु— गा० २२ काहृ स० १५३५ से पूव
* ७ नेमीनाथ फागु गा० ५ समरा स० १५४६ से पूर्व

८ हमविमल सूरि फाग— हसधार स० १५५४

* ६ अमररत्न सूरि फाग— गा० ६ अभय जैन ग्रंथालय

*१० हेमरत्नसूरि फाग— गा० ११ विनय चूहा अभय जैन ग्रंथालय

११ पार्श्वनाथ फागु— गा० १५ समयध्वज १५५८ स पूर्व

१२ फलौधी पार्श्वनाथ फागु— गा० २५ खेमराज

*१३ वसंत फागु गा० १६ गुणचन्द्र सूरि प्रकाशित

१४ वसंत शृंगार फागु— अम्बालाल शाह के पास

१५ गुरावली फागु— खरतर प्र० ए० जै० का० स०

१६ नेमि जिन फागु— चन्द्रसौभाग्य

१७ रावण पार्श्वनाथ फागु गा० २१ हर्ष कुंजर अभय जैन सग्रहालय

*१८ सुरंगाभिध नेमि फाग— धनदेव गणि कृत प्रकाशित

*१९ वसन्त विलास फागु प्रकाशित

*२० राणपुरमंडन चतुर्मुख आदिनाथ फाग प्रकाशित

*२१ स्थूलिभद्र फाग— कमलाकर प्रकाशित

२२ वाहण फाग गा० ११ स १५८७ लींबडी मे प्रतिलिपि अभय

१७ वी शताब्दी

१ नेमि फागु— गा० ४० जयवंत सूरि

* २ स्थूलभद्र प्रेम विलास फागु— गा० ९६ जयवंत सूरि अभय जैन स ग्रहालय

* ३ स्थूलभद्र फागु गा १०७ मालदेव स १६१२

* ४ नेमि फागु— गा ३० कनकसोम स १६३० रणथभोर

५ नेमि फागु— गा ४२ जयनिधान

६ नेमि फागु— लब्धिराज

७ नेमि फागु— विजयदेव

८ नेमिफाग बध चरित गा ८७ गजसागर सूरि शिष्य १६४५ स०

९ नेमि राजल फागु - मणिसागर त १६७३ के लगभग

१० नेमिफागु— गुण विजय स १६८१

११ भ्रमण वा मदन— गुण विजय

१२ नेमि फागु— गा १३ कनक कीर्ति

१३ हीर विजय सूरि फागु—

*१४ वासुपूज्य मनोरम फाग— कल्याण स १६९६ धराद

१५ नेमी फागु गा ३३— जिन समुद्र स १६९७ माचोर

१६ विरह दशातुरी फागु— गा ४० राजकवि

१७ नमि वसंत फागु— विद्याभूषण (दि०)

१८ आदिश्वर फागु— ज्ञान भूषण (दि०)

*१९ धममूर्ति गुरु फाग— कमलशेखर

*२० मगलकलश फाग— वाचक कनक सोम स १६४९

*२१ जिन हंसगुरू नवरंग फाग— आगम माणिक्य

१८ वी शताब्दी

१ नेमि फागु— गा २८ राजहंस

२ फागुणमास वर्णन गा ६ सिद्धि विलास— स १७६३

* ३ अध्यात्म फाग— लक्ष्मीवल्लभ प्रकाशित

१९ वी शताब्दी

१ सजम फागु— महानंद स० १८०५

२ नमि फागु— मंगानंद

जनेतर फागु काव्य

* १ नारायण फागु— १४९८ के आस पास

* २ मोहिनी फागु— १६ वीं शताब्दी

* ३ चुपई फागु— १६ वी शताब्दी

४ फागुकाव्य— चतुर्भुज— १६ वी शताब्दी

* ५ अज्ञात कवि कृत फागु— १६ वी शताब्दी

* ६ वाहणनू फाग— १६ वी शताब्दी

* ७ विरह देसाउरी फाग— १६ वीं शताब्दी

* ८ भ्रमर गीता फाग— स १६२२

---

*चिन्हांकित रचनाएँ प्राचीन-फागु-संग्रह, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा की ओर से प्रकाशित ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुकी है।

धमाल संज्ञक रचनाएं

१६ वीं शताब्दी

(१) ढमाल—दिगम्बर

(२) चतन पुद्गल धमाल—बुचा (दि०) अपभ्रंश

१७ वीं शताब्दी

(१) नेमीनाथ धमाल गा० १६—धमाल

(२) आषाढ भूती धमाल—कनक सोम स १६३८ हमारे स ग्रह में

(३) आर्द्र कुमार धमाल—कनक सोम स १६४४ हमारे स ग्रह मे

(४) नेमि धमाल गा० २१—गुण विनय हमारे स ग्रह में

(५) नेमीनाथ धमाल गा० ४६—मान तिलक हमारे स ग्रह म

(६) नेमी धमाल गा० १७—जिन समुद्र सूरि

(७) नेमि धमाल गा० ५—जिन समुद्र सूरि

(८) नेमी राजमती धमाल गा० ३३—जिन समुद्र सूरि

(९) ऋषभ धमाल गा० ५—जिन समुद्र सूरि

(१०) ऋषभ धमाल गा०५—जिन समुद्र सूरि

१८ वीं शताब्दी

(१) वसन्त धमाल—धम वद्धन हमारे स ग्रह में

(२) गुरु धमाल गा० ११—नित्य विजय कर्ता

(३) जिन कुशल सूरि धमाल गा० ७—मान विजय

(४) रत्न जयगणि धमाल हमारे स ग्रह म

(मालदेव की स्थूलिभद्र धमाल फागु में देखें)

धमाल को हिंदी म धमार लिखा मिलता है। अष्ट छाप के कवि नन्ददास गोविन्ददास आदि ने वसन्त एव होली के पदों की रचना धमार के नाम से ही की है जन रचनाओं म होरी संज्ञक रचनाओं का प्रारम्भ जिन समुद्र सूरि के नमी होरी (गा० ४) से होता है। १९ वीं शताब्दी म होरी संज्ञा वाले गीत प्रचुरता से रचे गये और २० वी मे भी यह क्रम जारी रहा। भीमसी माणक नामक बम्बई के जन पुस्तक प्रकाशक ने होरी संज्ञक पदों का एक अच्छा सग्रह प्रकाशित किया है। वसे स्तवन सग्रह रत्न सागर आदि

ग्रन्थों में भी होरी के गेय पद प्रकाशित हो है।

राजस्थान के जनेतर कवियों ने भी धमाल और होरियाँ बनाइ पर वे लिखित रूप में नही मिली मौखिक रूप से उनका प्रचार परम्परा से चला आ रहा है। लोक साहित्य के अन्तगत उनका स्थान आता है।

विवाहलो और मगल काव्य

जीवन में आनद और उत्साह के अनेक प्रसग आते हैं उनम से विवाह का प्रसग सबसे अधिक उल्लास का प्रसग है। इसे बहुत ही मगल रूप माना गया है। विवाह के समय वर और वधु के नवजीवन का प्रारभ व मिलन का सूत्रपात होने से उनके लिये तो यह आनद का महान् अवसर होता ही है पर उनके अतिरिक्त उन दोनों के परिवार व सभी व्यक्तियों यावत् जाति ग्राम व नगर के लोगों को भी वह आनन्ददायक होता है। ऐसे प्रसग मे सधवा स्त्रिया धवल मगल के गीत इस होड़ा होड और उत्साह के साथ गाती हैं वह देखन ही बनता है। कई दिन पहिले मे ही विवाह की तयारिया होनी शुरू होता है और तभी से मगल गीतों का स्वर गुञ्जायमान होने लगता है। विवाह के अनन्तर भी वर वधू सुसराल जाते है तो मानों एक नय परिवार के साथ आत्मीयता का सबध जोडते हैं। वहा उन दोनो का बडा स्वागत सत्कार होता है। वर को ससुराल वाले कई दिनो तक अपने यहा रखकर कोड (आनन्द मनाया) करते हैं। इस प्रकार यह प्रसग बहुत व्यक्तियो को बहुत दिनों तक आनददायक प्रतीत होता है। अतएव कवियो ने भी ऐसे प्रसग का जहा कहीं भी उन्हे अवसर मिला, बडे उल्लास के साथ वर्णन किया है।

प्राचीन आख्यानक काव्यों म चरितनायको के विवाह के प्रसग की चर्चा मिलती है। उनमें तत्कालीन ववाहिक रीतिरिवाजो आदि के सबध म भी अच्छी जानकारी मिल जाती है। विशेषकर लोक भाषा के काव्यों म विवाह प्रसग को वर्णन करने वाले स्वतत्र काव्य भी शताधिक मिलेंगे। गुजराती राजस्थानी हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे विवाह वर्णन प्रधान[1] स्वतत्र काव्यो के सम्बध मे इन पक्तियो के लेखक ने कुछ शोध की है। लेखक को यह विषय बहुत ही रसप्रद लगा। और लेखक के सग्रह म ऐसे २५-३० काव्य जन कवियो के रचित सगृहीत हैं जो कि १४ वी शताब्दी से २० वी शताब्दी तक के रचित हैं। इनकी भाषा राजस्थानी व गुजराती है। अन्य सग्रहालयो के ऐसे जन कवियों के विवाहले काव्यो की सूची बनाने पर इतने जन कवियो के रचित ही करीब ८० काव्य जानने में

१ उदाहरणाय विमल प्रबध का पूर्वकथन पृष्ठ ७८ से ११६ देखें।

आये हैं। हिंदी गुजराती और राजस्थानी के जैनेतर विवाहन का यों मिलाकर इनकी सख्या १०० से भी अधिक है। यह लख के अन्त म दी गइ सूची म स्पष्ट है। इन सब काव्यो पर विस्तार स प्रकाश डालने पर तो एक स्वतन्त्र ग्र थ हा तय्यार हो सकता है। यहा तो हिन्दी और राजस्थानी के काव्यो पर प्रकाश डाला जा रहा है। आशा है यह लेख अन्य विद्वानो को विशेष काय करने की प्रेरणा देगा।

विवाह वणन प्रधान काव्यो की सज्ञा

विवाह के प्रसग का वणन करने वाले काव्या की प्राचीन सज्ञा विवाह विवाहलो विवाहला यह सबसे प्राचीन है। दूसरी सज्ञा 'मगल' है। इनम मे जैन कवियों की एव गुजराती जैनेतर कवियों की रचनाओं की सज्ञा तो सबसे अधिक विवाहला, विवाहलो ही पाइ जाती है। मगल सज्ञक का य वसे तो बगला म बहुत अधिक मिलते हैं पर वे विवाह वणन न होकर चरितकाव्य हैं। हिन्दी और राजस्थानी मे जैनेतर कवियो के रचित विवाह वणन प्रधान "मगल" सज्ञक काव्य २० के करीब पाए जाते हैं। इनकी रचना १७वीं शताब्दी से प्रारभ होती है।

जन कवियो की निराली सूझ और उनके रूपक विवाह काव्य

जैन कवियों क विवाहल काव्य म एक बडी विशेषता उल्लेखनीय है कि इन काव्यो मे बाह्य एव आभ्यान्तरिक याने द्रव्य और भाव दोना तरह क विवाहो का वणन मिलता है। वर वधु को पति पत्नी का सम्ब ध जोडने वाले विवाह का वणन तो सब सामान्य है ही पर जन कवियो ने कुछ ऐसे विवाहने का य भी बनाये हैं जिनम वधु का स्थान स्त्री नहो पर धार्मिक व्रतों के ग्रहण की स्त्री का रूपक देकर व्रतो का विवाह सबध सयमी व्यक्ति से (सयम श्री दीक्षाकुमारी) स कराया गया है। इसे जन परिभाषा में भाव विवाह की सज्ञा दे सकते हैं। जब कि वर वधु के विवाह को द्रव्यविवाह कहा जाता है। यह आभ्यान्तरिक गुणों से आत्मा का सबध रूप विवाह जैन कवियों की एक अनोखी सूझ है जो दूसरे किसी कवि ने भी कम ही अपनायी है।

इस रूपकविवाह की परपरा कही कही हिन्दी के सत कवियों की रचनाओं में पाई जाती है उदाहरणाथ कबीर का निम्नोक्त पद लीजिये —

दुलहिनी गावहु मगलाचार
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥टेक॥
तनरत करि क मनरत करि हू पचतत बरतो।

रामदेव मोर पाहुने आये मैं जोबन म माती
शरीर सरोवर वेदी करि हूँ ब्रह्मवेद उचार।
रामदेव होगे भावरि लहूँ, धनि धनि भाग हमार॥
सुर ततीस कौतिग आए मुनिवर सहस्र अठ्यासी।
कहे कबीर हम नाहि चले हैं पुरिस एक अविनासी।

अर्थात्

रामरूप आत्मा मरे घर पाहुन आये हैं अत दुलहिन और भरतार के मगलाचार मगलगीत गाओ। मेरा तन मन उसी को अर्पित है। पचतत्व बराती क रूप म आये है। रामदेव मेरे पाहुने आ गये हैं। मैं यौवन से मदमस्त हूँ। शरीर सरोवर रूप वेदी करूगी। ब्रह्मज्ञान की जागृतिरूप वेदोच्चार मत्रपाठ के साथ आत्माराम के हाथ में भावरे लूगी जमे भाग्य ध य हो जायेगा। ३३ कोटि देवता ८८ हजार मुनि साक्षीरूप होंगे। अविनाशी पुरुष मुझे कहा ले चले हैं। गुरु नानक भी कहते हैं—

गावहु गावहु कामणी विवेक विचार।
हमारे घर आइया जगजीवन भरतार।
गुरू दुआरे हमारा वीआहु जि होआ जातहु मिलिआ ताजानिआ
तिहु लोका महि सबदु रामिआ है आपु गए आमन मानिआ।

विवाहलो काव्य की प्राचीन परम्परा

अपभ्र श भाषा भारतीय अनेक उत्तर प्रा तीय भाषाओं की जननी है। वह कई शताब्दियों तक स्वय लोक भाषा रही है। पर ११वीं १२वी शताब्दी मे प्रा तीय लोक भाषाओं मे बहुत अधिक परिवतन आ जाने से अपभ्र श का स्थान साहित्यिक भाषा के रूप में सीमित हो गया। तेरहवीं शताब्दी से प्रा तीय भाषाओं की स्वतत्र रचनायें मिलने लगती हैं पर वसे १४ वी शताब्दी तक की रचनाओं म अपभ्र श का प्रभाव स्पष्ट है। विवाहला रास बारहमासादि सज्ञक परवर्ती विविध प्रकार क काव्यों की परम्परा अपभ्र श साहित्य से जुड़ी हुई है। विवाहले काव्यों की उपलब्धि १४वीं शताब्दी मे होती है। उपलब्ध काव्यों म सब से प्राचीन विवाह वणन काव्य आगमिक गच्छीय जिन प्रभसूरि का 'अ तरग विवाह' है। यह छोटा सा आध्यात्मिक रूपक विवाह काव्य अपभ्र श भाषा में रचा गया है। आदि अत के दो पद्य यहां उद्धृत किये जाते हैं—

प्रारभ वमाय गुण मगु पाटण तहि, ग्रहे भवि योजिउ निरवमु वसए।

चउविह सघु जात उम्रकीय, ग्रहे वाहण सहस सोलय ॥१५॥

ग्रत इणि परि परि गए जो ग्रजगि, ग्रहे लहइ सो सिद्धि पुरि वासु।

मंगलिकु वीर जिणप्रभह ग्रहे मगलिकु चउवीह सघ ए॥

(ग्रतरग विवाह धवल वसत रागेण भणनीय)

इस काव्य के वस त राग मे गाये जाने का निर्देश है। इस की पुष्पिका मे विवाह ग्रौर धवल दोनों सज्ञायें साथ ही दी हैं। विवाह प्रसग म धवल ग्रौर मगल गीत गाये जात हैं इसलिये विवाहला ग्रौर धवल दोना सनाग्रा को एक सदृश मानते हुए परवर्ती रचनाग्रा में एक ही काव्य के लिये कही धवल ग्रौर कहो विवाहला सज्ञा लिखी मिलती है। परवर्ती रूपक विवाहलो के निर्माण का प्रेरणास्रोत भी ऐसे ही काव्य रहे हैं।

इसकी रचना सवत् १३०० के ग्रासपास मे हुई है ग्रौर इसकी ताडपत्रीय प्रति पाटण के जन भडार म सुरक्षित है। इस ग्रतरग विवाह म प्रमाद गुणस्थान को पत्तन याने नगर भविक जीव को निरूपम वर चतुर्विध सघ को जान उम्र ग्रौर शीलागो को वाहण का रूपक दिया गया है। ग्र त क वात म मुक्ति से विवाह कराकर सिद्धिपुरि में भविक जीव रूपी वर को पहुँचा दिया गया है परवर्ती सहज सु दर रचित जम्बू ग्रतरग विवाहला इसी की परम्परा का काव्य है। इसका परवर्ती रूपक काव्य स १३३१ म सोममूर्ति रचित जिनेश्वर सूरी नामक खरतर गच्छ क ग्राचाय ने जन मुनि की दीक्षा ग्रहण की उसका वणन करत हुए कवि ने दीक्षाकुमारी या सयमश्री को कन्या का रूपक देकर उसके साथ जिनश्वर सरि का विवाह यान मिलाप सम्ब ध जोडा है। वस जनमुनि प्राय लघुवय म ही दीक्षित हो जात हैं इसलिय उनके द्रव्य विवाह क प्रसग का वणन करने का ग्रवसर कवियों को नही मिलता क्योंकि वे ब्रह्मचारी ही रहते हैं। इसलिय कवियों ने संयम श्री को कन्या का रूपक देकर भाव विवाह के वणन प्रसग की सृष्टि की है। बालक ग्रवस्था में जिनेश्वरसूरि मरकोट के भडारी नमिचद क पुत्र थे। उनका नाम ग्रबडकुमार था। वह ग्रपनी माता म जन मुनि की दीक्षा ग्रहण करन का ग्रपना विचार प्रकट करते हुए कहते हैं—

परणिसु सयमसिरि वरनारि माई, माइए मज्झु भणह वियारी।

अर्थात् मैं संयमश्री के साथ विवाह करना चाहता हूँ मुझे वही प्यारी है। तन्नतर उन की माता उन्हें स याम स्वीकार करन पर होने वाली कठिनाइयों का अनुभव कहती है पर वे तो अपना निश्चय अटल रखते हुए कहते हैं—

"किपी न भावए विणु सयमसिरी" अर्थात् मुझे सयमश्री (दीक्षा) ग्रहण के अतिरिक्त कुछ भी नही सुहाता।

परणे विणु रिवमसिरि विविह् भगहि सुक्ख मासिमु। अर्थात मैं दीक्षाश्री से विवाह कर विविध प्रकार क सुखो का अनुभव करूगा। अत में अवन्कुमार का वर वनवर खेभ्नगर मे जिनपति सरि के पास दीक्षा दिलाई जाती है जिसका वणन कवि ने बडा ही सु दर किया है यथा —

अभिनव ए चालिय जान उत्र, अवड तणाई वीवाहि।
आपुणु ए धम्मह् चक्कवइ, हुयउ जानह माहि ॥१६॥
आवहि आवहि रग भरि पच महन्वयराय।
गायहि गायहि मधुर सिरि अट्ठय पवयणमाय ॥१७॥
अठार सह सहरह वरह जोजिम लहि सोलग॥
चालहि चालहि खति मुह वेगहि चग तुरग ॥१८॥
कारइ कारइ नमिचन्द्र भडारिउ उच्छाहु।
वायइ वायइ जान देलि, लखमणि हरषु अवाहु ॥१९॥
कुसलिहि खेमहि जानउत्र पहुतिय खेड मज्झारि।
उछवु हुयउ अइ पवरो नावहि फरफर नारि ॥२०॥
जिणवइ सुरिण मुलि पवरो देसण अमिय रसेण।
कारिये जीमणवार तरि जानह हरिस भरेण ॥२१॥
सति जणेतर वर भुयणि माडिये नदि सुवेहि।
वर सहि भविया दाण जलि, जिन गयणगणि मेह ॥२२॥
तहि अगियारा रिव निलजए झाणा नल पजलति।
तउ सवेगिहि निम्भियउ, हथलेवउ सुमुहुत्ति॥२३॥
इणि परि अवडु वर कुमरो परिणइ सजम नारि।
वाजइ नन्दीय तूर घणा, गुडिय घर घर बारि ॥२४॥

अर्थात्— अभयकुमार की अभिनव जान चली, जिसका मुखिया धर्मरूपी चक्रवर्ती था, पंच महाव्रत रूपी राजा बड़े हर्ष से उसमें सम्मिलित हुए थे। अष्टप्रवचन माता रूपी सधवा स्त्रियों ने मधुर स्वर में गीत गाये। १८००० शीलांग रूपी रथ जोत गये। ज्ञान रूपी तेज घोड़े रथों में जोड़े गये जो बड़े वेग से चले। नेमिचन्द्र भण्डारी और उनकी पत्नी लक्ष्मणी को इस जान को देख कर बड़ा हर्ष हुआ। कुशल क्षेम के साथ जान खेड़ नगर में पहुँची। वहाँ बहुत बड़ा उत्सव हुआ स्त्रियाँ फरफर नृत्य कर रही थी। जिनपति सूरि जो के उपदेश रूपी अमृत भोजन से जान का जीमणवार दिया गया। शांतिनाथ के जिनालय में दीक्षा विवाह की वेदिका बनाई गई। खूब दान दिया गया। ध्यान रूपी अग्नि प्रज्वलित की गई। शुभ मुहूर्त में संवेग रूपी हथलेवा जोड़ा गया इस प्रकार अभयकुमार ने संयम रूपी नारि के साथ विवाह किया। खूब वाजित्र बजे व ध्वजा पताकायें फहराई।

जैनाचार्यों के दीक्षाप्रसंग के वर्णनात्मक आठ विवाहला काव्य मिले हैं। उन सबमें इसी प्रकार संयम को कन्या का रूपक लेकर उसमें विवाह सम्पन्न कराया गया है। उपर्युक्त विवाहले के अनन्तर सोमसुन्दर ने जिनोदय सूरि विवाहला बनाया जो एक सुन्दर काव्य है। इसमें विवाह कराने वाले जोशी का स्थान गुरुश्री को दिया गया है। ये दोनों काव्य जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय और हमारे सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में प्रकाशित हो चुके हैं। इन दोनों का मध्यवर्ती ऐसा ही एक छोटा सा विवाहला मुनि मेरुनन्दन रचित युगप्रवर जिनचन्द्र सूरि विवाहला है। जिसे मैंने जैन सत्य प्रकाश के वर्ष १७ अंक १० में प्रकाशित किया है। ऐसे अन्य काव्यों में उदयनन्दिसूरि विवाहला कीर्तिरत्नसूरि, गुणरत्नसूरि सुमतिसाधुसूरि और हेम विमल सूरि विवाहले हैं। ये सभी जैनाचार्यों के सम्बन्ध में हैं और इनका रचना समय १४ वीं से १६ वीं शताब्दी है। इनमें से उदयनन्दिसूरि विवाहले से तत्कालीन वैवाहिक रीति रिवाज पद्धति की अच्छी जानकारी मिलती है। उदयनन्दसूरि का बाल्यावस्था का नाम राउल था। उन्हें विवाह करने का कहने पर वे कहते हैं—

सयमसिरि स्वयं वरि वरिसु।
बीजी सवि कन्या परिहरिसु।

अर्थात्— अन्य कन्याओं को छोड़ मैं संयमश्री से ही विवाह करूँगा। फिर

जोगी को बुलाया जाता है वह विवाह का लग्न मुहूर्त देखता है। पिता के घर में उत्सव मनाना प्रारंभ होता है। चारों ओर कुंकुम पत्रिकाएं भेजी जाती हैं। परिवार के लोग इकट्ठे होते हैं। धवल मंगल और बधावणे गाने प्रारंभ होते हैं। मण्डप रचा जाता है। बाजे बजने हैं। बन्दीजन विरुदावली बोलते हैं। लग्न आने पर वर को पाट पर बैठाकर स्नान कराया जाता है। क्षीरोदक पहनाया जाता है, स्त्रियें कटोरी में चन्दन भर कर उबटन करती हैं। बहिन आंखों को आंजती, वर को मुकुट आदि अलंकार पहनाये जाते हैं। बहिन आशीष देती है। वर घोड़े पर सवार होता है बहुत से लोग उसके साथ में चलते हैं। वेश्यायें नृत्य करती हैं वर के मस्तक पर छत्र और दोनो ओर चँवर ढुलाये जाते है। पौषधशाला में पहुँचने पर लग्न का समय आते ही गुरु भी उन्हें ओघा मुहपत्ति आदि साधु का वेश देते हैं और संयमश्री के साथ विवाह हो जाता है। जैन दीक्षाग्रहण से पूर्व आज भी संयम लेने वाले स्त्री पुरुष को तैयार किया जाता है मानो वह विवाहने ही चला है।

रूपक विवाहले काव्यों के अतिरिक्त जैन कवियों ने तीर्थंकरों व पुराने जैन महापुरुषों आदि के भी विवाहले काव्य बनाये हैं जैसे— आदिनाथ अजितनाथ शांति नाथ, सुपार्श्वनाथ चन्द्रप्रभ नेमिनाथ, पार्श्वनाथ व महावीर इन तीर्थंकरों के करीब ३० विवाहले काव्य मिलते हैं जिनमें सबसे अधिक नेमिनाथ के विवाहले हैं। अन्य जैन महापुरुषों में अद्रिकुमार मंगल कलश शालिभद्र कयवन्नाव जम्बुकुमार के विवाहले उल्लेखनीय हैं। ये सभी १५ वी से २० वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक में रचे गये हैं। संवत् १४१२ मे प्रारम्भ होकर सं० १९२९ तक इनका रचनाकाल है इनमें सबसे अधिक विवाहले १७ वी शताब्दी मे रचे गये हैं।

'धवल नामान्तवाली पाँच बडी व छोटी २ अनेक रचनायें ज्ञात हुई हैं। जिनमें दो जिनपति सूरि धवल गीत १३ वी शताब्दी के अन्त की हैं अवशेष १५ वी व १७ वीं के है। जैनेतर वैष्णव समाज में धवल धोल का प्रचार हिन्दी में है। वास्तव में गुजरात से ही इसको अपनाया गया है।

मंगल' काव्यो का प्रारंभ बंगाल मे १६ वी से शुरू हो के १९ वी तक बहुत अधिक रहा। हिन्दी में मंगल काव्यों का प्रारम्भ १७ वी शताब्दी में होता है। नरहरि और नन्ददास के रुक्मणी मंगल हिन्दी के सर्व प्रथम मंगलकाव्य हैं— फिर तुलसीदास के पार्वतीमंगल (सं० १६४३ मे) और जानकीमंगल रचे गये। १८ वी १९ वी में यह

परम्परा ठीक से चालू रही, जो २० वी तक भी चली आई है। अंतिम मगलकाव्य 'भवानी मगल स० १९६४ म रचित प्राप्त हुआ है।

भाषा मे प्रसिद्ध काव्य 'कृष्ण रुक्मणी वलि क अत के पद्या म रुक्मणी मगल शब्द भी आता है पर वलिओ छ द म रच जाने क कारण यह वेलि स ज्ञा स ही प्रसिद्ध हुआ। इसी समय के लोक कवि पद्मा तली का रुक्मणी विवाहलो काव्य मिलता है जिसकी सबस प्राचीन प्रति स १६६६ की लिखित हमार स ग्रह म है, मूलत यह काव्य २५०,३०० श्लोकों के प्रमाण का था पर लोकप्रिय होन स १९ वी शताब्दी म इसमे स्थान स्थान पर बहुत से नय पद्य जाडकर सम्मिलित कर दिये और तभी इसकी स ज्ञा मगल रखी गई। इसका अन्तिम रूप स० १९१९ म मूढवे क शिवकरण रामरतन दरक न सम्पादित किया। उन्हान ११ प्रतियो को एकत्र कर उनक पाठ मे अपनी ओर स कुछ बढाकर इसे तय्यार किया यह स्वयसिद्ध है, अत मूल काव्य स बढते २ इसका परिमाण करीब १० गुना हो गया है। राजस्थान की जनता म इसका बहुत प्रचार रहा है। गावों म व नगर की साधारण जनता आज भी इस बडी भक्ति भाव स सुनाती हैं। भोजन और गृहकाय स निवृत होकर नरनारी इस बडे चाव स सुनत हैं व इसकी समाप्ति पर भेंट पूजा चढाई जाती है, गायको को भोजनादि स सारकृत्य किया जाता है।

हिन्दी म विवाह वणन काव्यो की स ज्ञा विवाह क साथ 'मगल' भी पायी जाती है। सर्वप्रथम इस स ज्ञा का प्रयाग हम पृथ्वीराज रासो म "विनय मगल" प्रस्ताव खण्ड म पात हैं। रासो क लघुतम स स्करण म तो यह खण्ड नहीं है, पर अन्य स स्करणों मे है। वृहद स स्करण के ४६ वें समय क रूप म यह प्रकाशित भी हो चुका है। इसमें स योगिता के जन्म व यौवन का वणन है। स योगिता मदन-वृद्ध ब्राह्मणी क घर पर जाती थी और उसे वह 'विनय मगल" पढाती थी। इसमें पति का गौरव, स्त्रियों की पति के प्रति अनन्य प्रम भावना और विनय की प्रशसा वर्णित है। पृथ्वीराज रासो के इस प्रश को यदि प्राचीन माना जाय तो हिन्दी मे मगल स नक यह सबस पहली रचना कही जा सकती है। अन्यथा हरिहरनिवास द्विवदी के कथनानुसार ग्वालियर के कवि विष्णुदास रचित रुकमणि मगल सबसे पहला हिन्दी का स्वतन्त्र 'मगल' स ज्ञक काव्य है। श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने विष्णुदास को डू गरेन्द्रसिंह तोमर क समकालीन बतलात हुए, इसका रचना काल स० १४९२ क लगभग माना है। उन्होने जो उद्धरण दिय हैं वे राग गौरी, रागनी पूर्वी आदि गय पदो के रूप म है। इसकी एक नई सी प्रति

सरस्वती भडार उदयपुर मे है।

अनूप सस्कृत लायब्रेरी बीकानेर म कृष्णदास रचित कृष्ण रुकमणी रो विवाहला सदा कुंवर (?) रचित सीताराम जी को स्वयवर, रूपन्वी रचित रुकमणी मगल, नारायण रचित व्याहखेल, गुलराय रचित विवाहमगल और जगनद रचित 'विवाहला अथवा गोकलेश चरित्र की प्रतिया प्राप्त है। इनम स गोकलेश विवाह का विवरण मेरे राजस्थान म हस्तलिखित हिंदी ग्र थो की खोज भाग ४ मे दिया गया है। यह ऐतिहासिक काव्य है जिसम वल्लभ सम्प्रदाय क आचाय गोकल जी के विवाह का विस्तृत वणन है।

कच्छ क ब्रजभाषा प्रेमी महाराव लखपत रचित शिव विवाह की प्रति राजस्थान पुरातत्व मंदिर जयपुर के सग्रह म मुझे प्राप्त हुई थी। इसकी पद्य सख्या ३७१ है और रचना स० १८०५ श्रावण सुदी ५ को है। इस रचना का परिचय मैं जीवन साहित्य में द चुका हू। कच्छ में रचित दूसरा विवाह वणन जन कवि लक्ष्मीकुशल का रचित पृथ्वीराज विवाह भी उक्त जयपुर सग्रह स मिला है। इसम कच्छ क राजकुमार पृथ्वीराज का विवाह प्रसग ५२ पद्यो म वणित है। स० १८५१ के वसाख बदी १० को इसकी रचना हुई।

सुप्रसिद्ध निरजनी सम्प्रदाय क प्रवतक हरिदास रचित 'व्याहलो" हरिपुरुष जी की वाणी म छप चुका है। अन्य सत काव्यों के रूपक विवाह' वणन भी प्राप्त हैं। इनमें स एक का उद्धरण श्री परशुराम चतुर्वेदी क सत का य ग्र थ के पृष्ठ ६१ ६२ में दखा था। इनक स त परम्परा के पृष्ठ ५४७ म स त जग जीवन सा० के शिष्य देवीदास रचित "विनोद मगल' और भक्ति मगल का उल्लख है।

वसे कुछ ग्र थ ऐसे भी है जिनका नामान्त पद विवाह या मगल नहीं है पर हैं वे विवाह वणन काव्य ही, जसे कुजदास रचित उषा चरित्र मे उषा अनिरुद्ध के विवाह का ही वणन है। स० १८३१ कार्तिक सुदी २ से (३ दिन में) यह रचा गया है। खोज करने पर ऐसे विवाह वणन काव्य अनेक मिलेंगे। नामान्त पद चाहे चरित कथादि रखा गया हो पर वास्तव म वे लक्षण की दृष्टि से मगल का य ही हैं।

हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का स क्षिप्त विवरण भाग १ के पृष्ठ १४७ में—

१ नवलसिह (प्रधान) कृत रुकमणी मगल स० १९२५

२ हीरालाल के रुकमणी मगल स० १८३९

३ रामकृष्ण चौवे प्रथम और द्वितीय के दो रुकमणी मगल

का विवरण सन् १९११ तक की रिपोर्टों म होने की वात लिखी है। इसके बाद महिरचद, रामलाल के रूक्मणि मगल का विवरण छपा है। इसके पश्चात गत ४ वर्षों म और भी अनेक मगल काव्यो का विवरण खोज रिपोर्टो म लिया गया होगा। अन्य फुटकर उल्लेखो म नागरीदास का "स्वामी हरिदास मगल" बालकृष्ण का जानकी मगल चतुरदास का 'कृष्ण रूक्मणी विवाह' हितवृदावनदास का 'कृष्णगिरि पूजन मगल' नारायणदास कृत व्याहलो' के उल्लेख मिलत हैं। हिन्दी भाषा का सबस अतिम मगल का य चतुरभुजदास स्वामी रचित 'भवानी मगल' स० १९६४ म रचा गया और वह प्रकाशित हो चुका है।

एक रूक्मणी मगल उस्ताद इन्दरमन का सन् १९२१ मे प्रकाशित हमारे स ग्र० में है। हि दी मारवाडी मिश्रित भाषा म बालचद तैनाणी रचित "ऊखा अनिरुद्ध ब्याहलो ख्याल' एव रूकमणी विवाह या मगल (गरीब पुरानन्द सिलराल, मारवाड, डेडा निवासी) क रचित, सन् १९२० के प्रकाशित हमारे स ग्रह म हैं।

मगल काव्यों की सर्वाधिकता और लबी परपरा बगाली भाषा म मिलती है। श्री हसकुमार तिवारी लिखित "बगला और उसका साहित्य' पुस्तक के अनुसार बगला भाषा का सवप्रथम मगल-काव्य सन् १४८१ क लगभग मालाधरवासु ने 'कृष्ण विजय" लिखा जिसकी प्रसिद्धि कृष्ण मगल या गोवि द मगल नाम से भी है। उन दिनों पाचाली म देवता या उसक समान पुरुष के गुण वर्णनात्मक काव्यो की स ज्ञा 'विजय' या 'मगल' ही रखी जाती थी। पहल इस अथ म इस शब्द का व्यवहार जयदेव न किया था।

'मगल सज्ञा वाले काव्यो मे— मनसा मगल 'चडो मगल' ही प्रधान है। कवि विजयगुप्त का मनसा मगल सन् १४८५ की रचना है। उनसे पूववर्ती हरिदत्त के मनसा मगल का एक ही पद मिला है। विजयगुप्त की रचना के सालभर बाद ही विप्रदास ने 'मनसा मगल' लिखा। मनसा साप की देवी है और उनके मगल काव्यो की स ख्या ६० से भी अधिक है। 'शीतला मगल 'सृष्टि मगल' आदि अन्य कई व्रत कथाओ से सम्बधित मगल काव्य मिलते हैं। कवि जयानद और लोचनदास का चतन्य मगल भक्तश्रेष्ठ चतन्य महाप्रभु की जीवनी स सम्बधित है। परवर्ती मनसा मगलकाव्यों में वशीवादन, नारायणदेव क्षीमान द केतकादास आदि अनेक कवियो के काव्य प्राप्त हैं।

चडी मगल पर लिखे गये काव्य १६ वी शताब्दी से मिलने हैं। सबसे प्रसिद्ध

कवि कंकण मुकुन्दराम चक्रवर्ती का चंडी मंगल' है। माधवाचार्य का चंडी मंगल सन् १५८० में लिखा गया। १० वीं १८ वीं शताब्दी में कृष्ण मंगल काव्य भी लिखे गये, जिनमें से दुखी श्यामदास का गोविन्द मंगल' द्विज हरिदास का मुकुन्द मंगल' आदि उल्लेखनीय हैं। 'सृष्टि मंगल' 'राय मंगल' कालिका मंगल' 'अनन्त मंगल' आदि काव्यों के सम्बन्ध में हंसकुमार तिवारी की उक्त पुस्तक द्रष्टव्य है।

हिन्दी और राजस्थानी के मंगल' संज्ञक काव्य विवाह वर्णन रूप हैं। पर बंगला मंगल काव्य व्रत कथाओं और चरित काव्यों के रूप में हैं— यही इनका बड़ा अन्तर है।

इस प्रकार राजस्थानी गुजराती, हिन्दी और बंगला चार भाषाओं के विवाह और मंगल काव्यों सम्बन्धी अपनी जानकारी प्रस्तुत लेख में उपस्थित करने का प्रयत्न मैंने किया है। अभी इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र अन्वेषण की बहुत कुछ आवश्यकता है। यह प्रयास तो केवल दिशा सूचक मात्र है। अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी ऐसे काव्यों की परम्परा रही होगी उसकी खोज भी होनी चाहिए। मुझे ज्ञात जैन राजस्थानी गुजराती व हिन्दी रचनाओं की सूची यहां दी जा रही है।

जैन कवियों के रचित विवाहलो काव्य सूची

अजित विवाहलाउ	गा ३२	महनन्दन	१५ वीं शती
अठारह नाता विवाहलो		हीरानंदसूरि	१५ वीं शती
आदिनाथ विवाहलो	गा २४५	सीहो	१६७५ पूर्व
आदिनाथ विवाहलो	गा १५	क्षेमराज—जैसलमेर भंडार	१६ वीं शती
आदिनाथ विवाहलो		ऋषभ	१७ वीं शती
आदिनाथ विवाहलो	गा २५	रतनचन्द्र	१६वीं शती
आर्द्र कुमार विवाहलउ	गा ४६	सेवक	१६ वीं शती
आर्द्र कुमार विवाहलउ	गा २५	देपाल	१६ वीं संभव है
आर्द्र कुमार विवाहलउ	गा २४	अज्ञात	दोनों एक ही हों
उदयनंदिसूरि विवाहलउ	गा २७	अज्ञात जैसलविजयजी संग्रह	१६ वीं शती
ऋषभदेव विवाह धवल		सेवक	१६ वीं शती
ऋषभदेव विवाह धवल	गा २७६	श्री देव	१६ वीं शती
अंतरंग विवाह		जिन प्रभ सूरि	१४ वीं प्रारंभ

कयवना विवाहलो	गा १५	देपाल	१५ वीं शती
कीर्तिरत्न सूरि विवाहलो	गा ५४	कल्याणचद्र	१५ शती
कृष्णविवाहलउ		हरदास	१८ वी शती
गुणरत्नसूरि विवाहलो	गा ५०	पद्म मदिर	१६ वीं
चद्रप्रभ विवाहलउ	गा ४१	उदयवचन	१६८४
जबू अतरग विवाहलो	गा ६३	सहजसु दर	१५७२
जबू स्वामी विवाहलो	गा ३५	हीरानद सूरि	स १४८५
जबू स्वामी विवाहलो	गा १५	अनात	
जिन चद्रसूरि विवाहलो	गा ३५	सहजज्ञान	१४०६
जिनेश्वरसूरि विवाहलो	गा ३३	सोममूर्ति	१३३१
जिनोदयसूरि विवाहलो	गा ४४	मेरुनदन	१४३२
नेमिनाथ विवाहलो	गा २२	जयसागर	१५०५
नेमिनाथ विवाहलो	गा २९	देपाल	१६ वी शती
नर्मिनाथ विवाहलो	गा ७	घनप्रभ	१७ वी
नेमिनाथ विवाहलो		अनात	
नर्मिनाथ विवाहलो धवल ढाल ४४		ब्रह्मविनयदेवसूरि	स १६१५
नेमिनाथ विवाहला		महिमसु दर	स १६६५
नर्मिनाथ विवाहला गरबाटान २२		वीरविजय	स १८६०
नेमिनाथ विवाहलो		ऋषभ विजय	१८८६
नेमिनाथ विवाह		केवलचद्र	१९२९
पाश्वनाथ विवाहलो	गा ३६ ६१	अज्ञात	१४१२ वे सु ११
पाश्वनाथ विवाहलो		पेथो	१६ वी
पाश्वनाथ विवाहला	गा ८	क्षेमराज जसलमर भडार	१६ वीं शताब्दी
पाश्वनाथ विवाहलो	ढाल ४६	ब्रह्मविनयदव सूरि	स १-१७ श्रावण
पाश्वनाथ विवाहलो		रगविजय	सं १८६०
पाश्वनाथ विवाहलो	गा ६१	विजयरत्नसूरि भडार	१८ वीं शताब्दी
पिपलगच्छ गुरु विवाहलो	गा ५	अनात	१६ वीं
मगनकलग विवाहलउ	गा १७०	धनराज	सं १६६०

महावीर विवाहलउ		कीर्तिराज	१५ वी शता दी
महावीर विवाहलउ	गा ॰२२	अज्ञात अनंतनाथजी भंडार	१७ वी
वीरचरित्र विवाहलो	ढाल ३७	ब्रह्मविनयदेव सूरि	१७ वी शता ी
शत्रुञ्जय चत्यपरिपाटी विवाहलउ	गाथा २५	अज्ञात	१५ वी शताब्दी
शालिभद्र विवाहलो	गा ४४	लक्ष्मण	१५६८ लिखित
शातिनाथ विवाहलउ		हर्षधर्म	१६ वीं शताब्दी
शांतिनाथ विवाहलउ धवल		आनन्द प्रमोद	१५६१
शांतिनाथ विवाहलउ		ब्रह्मविनयदेव सूरि	१७ वीं
शातिनाथ विवाहलउ		सहजकीर्ति	१६७८
सुपाश्व जिन विवाहलउ धवल	३४	ब्रह्मविनयदेव सूरि	स १६३२
हेम विमल सूरि विवाहलउ गा	७१		१६ वी शताब्दी
सुमति साधुसूरि विवाहलउ गा	८२	लावण्य समय	१६ वी शताब्दी
श्री महावीर विवाहलउ		हर्षसायमसूरि गुरुशिष्य	ई स १५१८
शांतिनाथ विवाहलउ	•		
शाति विवाहलउ	गा २७	तपोरत्न	१६ वी

जैनेतर गुजराती कवियों के रचित विवाह काव्य

अष्ट पटराणीनो विवाह	दयाराम	
ईश्वर विवाह	गोपीमान	
ईश्वर विवाह	देवीदास छोटा	
कानुडानो विवाह	मुरारि	
कृष्ण विवाह	अज्ञात	
गोकुलनाथ जी नो विवाह	राधाबाई	
गोपीकृष्ण विवाह	महीवदास	
जानकी विवाह	जीवनदास	
वलीनो विवाह	तुलसीदास	
तुलसीनो विवाह	अज्ञात	१८५७
	अज्ञात	

तुलसी विवाह	गिरधर	१८७१
तुलसी विवाह	प्रभाशंकर	
तुलसी विवाह	प्रीतम	
नरसिंहना पुत्रनो विवाह	हरिदास	
नरसिंहना पुत्रनो विवाह	मोतीराम	१७२६
नरसिंहना पुत्रनो विवाह	प्रेमानंद (वडा)	
नरसिंहना पुत्रनो विवाह	प्रेमानंद (छोटा)	
नागर विवाह	रणछोड	
नागर जितो विवाह	दयाराम	
महादेव विवाह	गोपाल भट्ट	
महादेव विवाह	वल्लभ	
महादेव विवाह	फूढ	
रघुनाथजीनो विवाह	गोविंद	
राधा विवाह	रणछोड	
राधिका विवाह	राजे कवि	
राधिका विवाह	द्वारको	
रामविवाह	इच्छाराम	
रामविवाह	दिवाली बाई	
रामविवाह	प्रभूराम	
रुक्मणी विवाह	त्रिकमदास	
,,	कृष्णदास	
,,	गोविन्ददास	
,,	दयाराम	
,,	धनजी	
,,	मुक्तानंद	
,,	रघुनाथ	
विठ्ठलनाथजीनो विवाह	माधवराम	
विवाह खेल	वल्लभ	

विवाह खेन	नारायण	
विवाह खेल	उत्तमराम	
वेणीवत्सराज विवाहलउ	डामर	१६०७ लिखित प्रति
सामलसाहनो विवाह	नरसिंह	
सामलसाहनो विवाह	वल्लभ	
सामलसाहनो विवाह	ग्राधारभट्ट	
शिवम्रिवाह	नाकर	
शिवविवाह	छोटम	
शिवविवाह	रणछोड	
शिवविवाह	जगजीवन	
शिवविवाह	मयाराम	
सत्यभामा त्रिवाह	दयाराम	
सीता विवाह	मालण	
सूरति विवाह	दयाराम	
सूरति बाईनो विवाह	घेलाभाई	
सूरति बाईनो विवाह	धीरो	
सूरति बाईनो विवाह	निभयराम	

हिन्दी के विवाह ग्रोर मगल काव्य

कृष्ण रूक्मणी विवाह	चतुरदास	
कृष्ण मगल यावलो	कृष्णदाम	
जानकी मगल	तुनमीदास	१६४३
जानकी मंगल	बालकृष्ण	
पार्वती मगल	तुलसीदास	१६४३
पृथ्वीराज विवाह पद ५२	लक्ष्मीकुराम	स १८५१
भवानी मगल	चतुभु ज स्वामी	स १६५६–६४
राधा मगल	ग्रज्ञात	
रूक्मणी मगल	नरहरि	१७ शताब्दी
	नन्ददास	,

रुक्मणी मगल	केशोराम	१७५०
"	हीरालाल	१८३६
"	ठाकुरसीदास	
,	रामकृष्ण चौबे	
,	विष्णुदत्त	
"	नवलसिंह कायस्थ	
"	रूपदेवी	
,	विष्णुदास	
रुक्मणी व्यावलो	हरिदास निरञ्जनी	
विवाह लीला (गोकुलेश विवाह)	जगनन्दन	१८ वी
विवाह मगल	गुनराय	
शिव व्याह पद्य ३७३	महाराउल लखपत	सं १८०७
स्वामी हरिदास मगल	नागरीदास	

राजस्थानी के जैनेतर विवाह मगल काव्य

कृष्ण रुक्मणी वेलि	राठोड पृथ्वीराज	१६३७
रुक्मिणी विवाहलो मगल	पद्मा तेली	१६६४ से पूर्व
महादेव पार्वती वेलि	किसनउ	
रुक्मिणी मगल	उदो	

विवाहलो मंगल सज्ञक का यों की परपरा बहुत ही व्यापक विस्तृत रही है। नित्य अज्ञात ग्रन्थों की उपलब्धि होती रहती है। विजय धर्मसूरि ज्ञान मन्दिर आदि में कुछ इस सूचि के अतिरिक्त प्राचीन विवाहला मिले हैं। प्राप्त व अज्ञात काव्यों का सम्यक परिशीलन आवश्यक है।

धवल सज्ञक रचनाएं

भारतीय सगीत के विकास मे जन समाज का महत्वपूर्ण योग रहा है उसका उचित मूल्याकन अभी नही हो पाया है। जन धर्म भारत का बहुत प्राचीन धर्म है और प्रारम्भ से ही इसके प्रवत्तक जन तीर्थकारो का यही लक्ष्य रहा है कि धर्म किसी जाति वर्ण या देश विशेष की सम्पत्ति नहीं वह तो प्राणी मात्र के उत्थान का विषय है। जा वर्िक परिभाषा में कहे तो, अभ्युदय और निश्रेयस का प्रधान कारण है। इसलिए धर्म सन्ग किसी भी सीमा में अवरुद्ध न रखा जाकर प्राणी मात्र के लिए प्रचारित किया जाना चाहिये। यह दूसरी बात है कि व्यक्ति अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार ही इस सन्देश को ग्रहण कर पाता है पर उसके श्रवण एव ग्रहण का द्वार तो सभी के लिए खुला रहना चाहिये। तीर्थकारा के समवरण अर्थात धर्म प्रवचन म दव दवी नर नारा ही नहीं वरन् पशु पक्षी भी सम्मिलित होते थे। तीर्थकारो की दिव्य ध्वनि मानव कौशिक राग म गु जायमान होती थी। इधर साधना का महान् तपोबल उधर सगनीमय वाणी का माधुर्य, सहज ही हजारों लाखों प्राणियो के जीवन उत्थान म जादू का सा असर करता था। जन जन को बोध मिल सके, इसलिए तीर्थ कर स्कध अलौकिक ज्ञान सम्पन्न होने पर भी जन-भाषा में ही उपदेश देते थे। गम्भीर से गम्भीर तत्वों का भी निरुपण उनके द्वारा सवजन सुलभ सरल भाषा म किया जाता था। तीर्थ करों के अनुयायी—जैनाचार्यो ने भी इस परम्परा को निरतर चालू रखा और इसी का परिणाम है कि भारत की प्रांतीय भाषाओं मे, जिन जिन प्रांतों मे जन धर्म का प्रचार एव प्रभाव रहा प्रचुर जैन साहित्य उपलब्ध होता है। लोक प्रचलित कहावतो दृष्टान्त कथाओ और लोक कथाओं का भी जनसाहित्य में खूब उपयोग हुआ है।

सगीत का आकर्षण अद्भुत है। मानव ही नही पशु पक्षी पेड पौधे भी उससे प्रभावित होते हैं इसलिए जन-साधारण मे धर्म प्रचार करने के लिए जैनाचार्यो ने लोक सगीत को खूब अपनाया। मेरे नम्र मतानुसार सगीत शास्त्रीय ग्रन्थों में जिन राग रागि नियो एव देशी सगीत की चर्चा है वह बहुत ही साधारण है। लोक सगीत को शास्त्रीय

परिभाषाओं में बांधना सम्भव नहीं। असंख्य स्वर लहरियों एवं नाद ध्वनियों को भला कहां तक कोई वर्गीकृत कर और उनका नामकरण करे। हजारों लोक-गीत और उनकी ध्वनियां जैन रचनाओं मे एवं जन साधु साध्वियों एवं श्रावक श्राविकाओं के कंठों में सुरक्षित हैं। जैन रास, चौपाई आदि ग्रंथों में शास्त्रीय छन्दों में से दोहा चौपाई के अतिरिक्त बहुत ही कम छन्द व्यवहृत हुए हैं पर लोक गीतों की देशियां या उनमें भरपूर प्रयोग हुआ है। एक एक रास में दस-बीस पचास और किसी किसी में तो शताधिक लोक-गीतों की देशियों अर्थात् राग रागिनियां का स्थान मिला है। प्रत्येक ढाल के प्रारम्भ में, वह ढाल जिस लोक-गीत की देशी रागिनी या तर्ज पर गाई जानी चाहिये उस लोक गीत की कुछ पंक्तियां भी उद्धृत कर दी गई हैं। जिसमें हजारों लोक गीतों की देशियों का प्रचार जन समाज मे हुआ एवं अब तक है। ऐसी करीब ढाई हजार देशियों की एक सूची जैन गुर्जर कविओ भाग ३' के परिशिष्ट में प्रकाशित हो चुकी है।

मध्यकाल के लोक नृत्य एवं नाट्य की भी जानकारी जैन-साहित्य से ही सर्वाधिक मिलती है। आठवीं नवीं शताब्दी से रास चच्चरी, धवल मंगल एवं फागु के गाने एवं खेले जाने की परिपाटी जन साधारण में थी। इसको सबसे अधिक आदर जैन विद्वानों की रचनाओं मे दिया हुआ मिलता है। चौदहवीं शताब्दी तक इस पद्धति का खूब प्रचार था। इसलिए छोटे छोटे रास चच्चरी फागु आदि सैकड़ों की संख्या में जैन विद्वानों के (जन भाषा में) रचे हुए मिलते हैं। वे जैन समाज में विविध उत्सव प्रसंगों में, मन्दिरों में गाये एवं खेले जाते थे। उनके इस प्रकार के उपयोग होने का उल्लेख उन रचनाओं की अंतिम पंक्तियों में कवियों ने स्वयं किया है। दसवीं शताब्दी के 'उपमिति भव प्रपंच कथा' नामक विश्वसाहित्य के बेजोड़ रूपक ग्रन्थ मे तत्कालीन रास एवं गीत के उदाहरण प्राप्त हुए हैं। तेरहवी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक की अपभ्रंश और राजस्थानी रचनाएं सैकड़ों की संख्या मे मिलती हैं जिनके सम्बन्ध मे हिन्दी गुजराती एवं राजस्थानी इतिहास-ग्रंथों में कुछ चर्चा भी प्रकाशित हो चुकी है और मेरे भी कई निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं।

मांगलिक प्रसंगों में धवल मंगल गीत गाये जाने का प्रचार शताब्दियों से चला आ रहा है। उत्तर भारत के इन धवल-मंगल गीतों के सम्बन्ध में मेरी जानकारी थी पर दक्षिण भारत कर्नाटक आदि में भी इनका इसी नाम से प्रचार रहा है यह बिहार थियेटर के क्रमांक १२ में प्रकाशित साथ सत्यनारायण के लेख से सर्व प्रथम विदित

हुआ। क्योंकि दक्षिण भारत की भाषाएं उत्तर भारत के निवासियों के लिए दुरूह हैं इसलिए उधर के साहित्य संगीत कला की उतनी अधिक जानकारी हम लोगों को नहीं है। इसी तरह दक्षिण भारत के विद्वानों को उत्तर भारत के साहित्य संगीत एवं कला के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी है। धार्मिक प्रसंगों को लेकर दोनों प्रांतों का आवागमन सम्बन्ध बराबर ही रहा है। उत्तर भारत के यात्री दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा करते रहते हैं और दक्षिण भारत के लोग उत्तर भारत यात्रा के लिए हजारों की संख्या में आते जाते रहते हैं। इसी प्रकार व्यापार आदि अन्य प्रसंगों में भी पारस्परिक मिलजुलन एवं सम्पर्क होता रहता है।

जैन धर्म का प्रचार उत्तर दक्षिण दोनों प्रांतों में हजारों वर्षों से समान रूप में रहा है इसलिए जैन विद्वानों के द्वारा साहित्यिक आदान-प्रदान भी खूब होता रहा। धवल-मंगल गीतों के प्रचार दोनों प्रांतों में होने का प्रधान कारण भी सम्भवतः जैन विद्वान ही रहे होंगे।

तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में धवल गीतों का प्रचार उत्सवों गुरुओं के आगमन प्रसंगों आदि में किस तरह होता था इसके सम्बन्ध में कुछ उल्लेख खरतर गच्छ बृहद् गुर्वावलि में प्राप्त हैं उन्हें उद्धृत किया जा रहा है। संवत् १२,६ में खरतर गच्छ के विद्वान् जिनपति सूरिजी का एक रोचक शास्त्रार्थ अंतिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान की सभा अजमेर में हुआ था। विजय के अनन्तर जिनपति सूरिजी राज सभा से अपनी पौषध शाला या उपाश्रय में वापस पधारे उस समय का वर्णन करते हुए गुर्वावलि में लिखा गया है—

तदनन्तर तन स्थानानुगताय सहस्र सङ्ख्य तुरगमाधि-रूढराज पुत्रानुगम्यमान मण्डलेश्वर कइमास प्रमुख राज प्रधानैः सह प्रतिवार्ता कुर्वन्त स्वकर्णाभ्यामात्मीय कीर्ति शृण्वन्त प्रभूतलोकदीय मानशिषा गल्लन्त श्री पृथ्वीराजसत्के मेघाडम्बरनाम्नि छत्र प्रभावनायै मस्तकोपरि ध्रियमाण पुरमध्ये स्थाने-स्थाने रणभरेण प्रेमणोभय निरापेक्षमान, दाने च याचि मार्गे नृत्यन्तीषु दीयमानाना धवलेषु गीयमानेषु श्री गौतमस्वामी गणधर प्रमुख प्रवज सत्र गुणगणप्रशासन पूर्वक विरुदावलीवादनेषु भट्टनारेषु श्री पृथ्वीराज सभाया श्री जिन पतिसूरिभिर्जित पद्मप्रभ इत्याद्यप्रतिबद्धानु तत्काल निष्पन्नासु चतुष्पदेषु पठ्य मानासु, नि स्वान सह पञ्चशब्देषु राजादेशा नगरे शोभाया शोभिते श्री अजयमेरौ चैत्यपरिपाटि पूर्वक पौषधशालाया समागता आ पूज्या।

इसी प्रकार इनके गुरु जिनचन्द्रसूरि जी संवत् १२२३ में दिल्ली में पधारे थे तब राजा मदनपाल एवं श्रावकों ने आपका प्रवेश उत्सव मनाया था। उस उत्सव का वर्णन करते हुए गुर्वावलि में लिखा है —

श्री मदनपाल महाराजोपरोधाद् श्री पूज्या श्री दिल्ली प्रति प्रस्थिता। वाद्यमानासु चतुर्विंशतिषु निस्वानयुगलासु विरुदावलीं पठत्सु भट्टचारणेषु धवलेषु दीयमानेषु, वसन्तादिमागलिक्यरागेण गायत्सु गायनेषु, नृत्यमानासु नर्तकीषु ऊर्ध्वीकृतैण्वालम्बसहस्त्रेषु, मस्तकोपरि ध्रियमाणे छत्रैस्तन सत्य लोकैरनुगम्यमाने श्री मदनपाल महाराज दत्तहस्तै श्री जिनचन्द्रसूरि भी, राजन्येशालकन तन्निगमनागमादि मनः शुभे श्री योगिनीपुरे प्रवेश कृत।'

जिन प्रबोध सूरि के संवत् १३४१ में जालोर आने एवं जिनचन्द्रसूरि के पट्ट-स्थापना के समय में भी 'गीयमानेषु प्रवरगीतेषु, दीयमानेषु धवलेषु नृत्य मानासु प्रवर पुरांगनासु" इन शब्दों में धवल दिये जाने का उल्लेख है।

तदनन्तर सं० १३७५ में जिनकुशलसूरि जी की संघ यात्रा के वर्णन में संघश स्त्रियों के धवल मंगल गान और चच्चरी दिये जाने का उल्लेख इस प्रकार किया गया है— "अविश्रवसुधवाभि सुश्राविकाभिर्गीयमानेषु धवल मंगलेषु, दीयमानासु चच्चरिषु।'

संवत् १३८४ और १३६८ में सिन्धप्रान्त में जिनकुशलसूरि जी का पदार्पण हुआ। उनके प्रवेशोत्सव के समय नाटक करने, ताल रासदन और गीत गाये जाने का उल्लेख इस प्रकार है— नानाविधेषु नाटकेषु दीयमानेषु नराविधवसुधवाभिर्नारी भिरत तालरास केय हा हा हू हू समानानेकगायना वलीभि गियमानेषु गीतेषु गीयमानेस्व विधवसुधवाभिर्नारीभि सकना मागलिक्य माला ज्वाला सलिल धवलेषु मंगलेषु।'

संवत् १३६० में जिनकुशलसूरि के पट्ट पर जिनपद्मसूरिजी की स्थापना का महोत्सव हुआ उसमें भी ताल रास दिये और धवल मंगल गाये गये। यथा 'स्थाने स्थाने दीयमानेषु तालारासकेषु गीयमानेष्व विधवसुधवनारीभि धवल मंगलेषु।

उपरोक्त उद्धरणों से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में उत्सवों एवं मांगलिक प्रसंगों के समय स्त्रियों के द्वारा धवल मंगल गीत गाये जाने का राजस्थान, गुजरात एवं सिंध तक में आम रिवाज था और वह आज भी कई प्रान्तों में प्रचलित है। विवाह आदि के समय धवल-मंगल गीत आज भी गाये जाते हैं। यद्यपि

उनके स्वरूप में परिवर्तन हो गया है।

"धवल" वास्तव में उत्साह का प्रगट करने वाला एक मांगलिक गीत विशेष है। पर वह कई रागों में गाया जाता और विविध छ ों मे बनाया जाता था, इसकी सूचना हम सगीत ग्र थो के अतिरिक्त छ न्द ग्र थों एव प्राप्त रचनाओ स भली प्रकार मिल जाती है। बारहवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध कलिकाल सवज्ञ हेमचन्द्राचार्य के छन्दोऽनुशासन में धवल के कई भेद विवेचित हैं। आठ चरणो वाल छ चरणों वाले और चार चरणो वाले ये तीन भेद तो छन्दो की दृष्टि से हैं। इनके नाम श्री धवल यशोधवल कीर्ति धवल गुण धवल भ्रमर धवल, भ्रमर धवल उत्साह धवल दीपक धवल आदि थे। यथा— धवलमृष्ट षट चतुष्पात् ।

अष्टपात्पटपाच्चतुष्पाच्च धवल नाम छ द ।

धवल निहेण सुपुरिसो वण्णिज्जइ जेंण तेण सो धवलो ।

धवलो वि होइ तिविहो अट्ठपओ छप्पओ चउप्पाओ ॥

धवलानि च सातवाहनोक्तिषु द्रष्टव्यानि। दिमात्र तुद्दाहरिष्यते ॥

तत्राष्टाह्वोजे चिदो सम चौ धी धवलम् ॥

तत्र धवलेषु मध्येऽष्टाह वो धवले विषमेषु पादेषु चत्रय द्विमात्रश्च क, समेषु पादेषु चद्वय यत्र तच्छी धवलम् ।

वस तलेखेत्यन्ये । यथा—

खीरसमुद्दिण लवणजलहि, कुवलय कुमुइहि ।

कालिंदी सुरसिधुजलिण, महुमहणु हरिण ॥

कइलासिण सरिसउ हू किरि, सो अजणगिरि ।

इह तुह जस सिरियवलिउ पहु, कि पडुए न हु ॥

आध ततीये चि ो न्तीये तुर्ये चि नेये ।

त्वोजे चातो समे चादो चिर्वा यशोधवलम् ॥

अष्टाह वौ धवले आद्यततीयया पादयश्चगणत्रय द्विमात्रश्च। द्वितीय चतुर्थ योशाचगणत्रयम्। छापेषु चतुप पादेषवाजया प ञ्चम सप्तमयार्द्वौ चगणौ त्रिमात्रश्चैक समयो पष्ठाष्टमयो चगणद्वय द्विमात्रश्चैक मतान्तेर चगणत्रय वा यत्र तद्यशाधवलम। यथा—

जे तुह विच्छहि वयणकमलु, ससहरमडल निम्मलु ।

जै वि हु पालहि मिच्चकम्मु, पुणहि जि निहवमु विककमु ।।
षडङ्घ्राद्यो तुर्ये पादो द्वितीये पञ्चमे
चो नैर्षे पाश्या च पो वा कीर्तिधवलम् ।।

तत्र षडंह्रौ धवले प्रथमे चतुर्थे च पादे द्वौपण्मात्रावेको द्विमात्र । द्वितीये पञ्चमे च पादे द्वौ चतुर्मात्रौ । शेषे तृतीय षष्ठे च पगणद्वयात्परश्चतुर्मात्र पञ्चमात्रा वा चेत् तदा कीर्ति धवलम् । यथा—

उक्करडा खवलउ गज्जउ चिरु जुज्भमण,
उ नामउ सिर दसद म लज्जउ ।
थक्क महब्भर तुहुँ कडढहिं, भ्रनु न तिहुअणि,
कित्तिधवल विसाउ तुह चट्टइ ।।

चतुरह्यावाज पश्चौ समे पचचाद्वस्तो वा गुणधवलम् । तत्र चतुरंह्रौ धवले विषमपादयोरेक पण्मात्रौ समयो पचचेम्य परो द्विमात्र स्त्रिमात्रा वा चेत् तदा गुणधवलम् । यथा—

कद्दमभरण मागुलया, बहु पिहुला दुत्तरजलुल्लया ।
तिम्व भरु वहमुगुणधवलया, जिम्ब केम्वइ न हसति पिसुणया ।।
पचता पचौ भ्रमर ।

आजपादया पण्मात्र चुतुर्मात्रत्रिमात्रा समयो पण्मात्र चतुर्मात्रौ चेत्तदा भ्रमरो धवलम् । यथा—

किति तहारि वण्णविणु, कइ भ्रनु न वण्णहिं ।
मालइ मालिवि कि भमर पत्तु रइ लग्गहिं ।।
पचता पचचा भ्रमरम् ।

घोजे पण्मात्र चतुर्मात्रत्रिमात्रा समे पण्मात्र एकचितुर्मात्रौ द्वौ चेत्तदा भ्रमरम् धवलम् ।

यथा— इवहु तुहु गुणि अहिअउ, मग्गु वि पहु मइ वाहिअउ ।
भमरविलासिणिगीअरा, तुह पर कित्ति निसामिअरा ।।
आद्ययो पचो भ्रन्त्ययोश्चु सवश्रा ते तो वो बामगलम् ।

आद्ययो प्रथमद्वितीययो पादयो प्रत्येक पगणश्चगणत्रय च, अन्त्ययामृताय

ये दोनों गीत अब स २३ वर्ष पूर्व हमने अपने सम्पादित 'ऐतिहासिक जन काव्य संग्रह' म प्रकाशित किये थे। इनमे से साह रयण रचित श्री जिनपतिसूरि धवल गीत क प्राथमिक तीन पद्य नीचे दिये जा रहे है—

वीर जिणेसर नमइ सुरेसर तस पह पणमिय पय कमल।
युगवर जिनपतिसूरि गुण गाइसो भक्तिभर हरसिहि मनिरमले ॥१॥
तिहुयण तारण सिव सुख कारण वछिय पूरण कल्पतरो।
विघन विनासण पाव पणासण, दुरित तिमिर भर सहस करो ॥२॥
पुहवि पसिद्धउ सूरि सुरिश्वर नाम वम सयन सिरि तिलउ ए।
इणि कलिकालहि एह जो जुगपवर जिणवइ सूरि महिमा निलउ ए ॥३॥

एसे गीत और भी कई मिल हैं पर उनको धवल सज्ञा नही दी गई इसलिए उनकी चर्चा यहा नही की जा रही है। आचार्यों के नगर प्रवेश पट्टोत्सव एव अन्य धार्मिक प्रसगो म एसे गीत गाये जात थे। व अधिकाश मौखिक रहे और छोटे-छोटे होने से सुरक्षित नही रह सक।

विवाह प्रसग के साथ तो धवल मगल गीतो का खास सबध है और विवाहलो एव मगल काव्य पचासो की सख्या म उपलब्ध हैं जिनके सबध मे मेरे कई लख प्रकाशित हो चुके हैं। कई विवाहलो या विवाह सज्ञक काव्यो म धवल का नाम भी पाया जाता है। यहा ऐसे ही कुछ काव्यो का परिचय दिया जा रहा है। ऐसे काव्यो म सबसे पहला काव्य सवत् १३२० के लगभग का अतरग विवाह धवल अपभ्रश भाषा म रचा हुआ प्राप्त हुआ है। जिसको वसन्त राग म गान का उल्लख किया गया है। जिन प्रभसूरि रचित इस काव्य का आदि अत इस प्रकार है—

आदि— पमाय-गुण ठाणुपाटणु तहि अहे भवियजिउ निवसु वर ए।
चउविहसघु जानउत्र कीय अहे वाहण सहस सोलग ॥१॥
सुभ परिणामु सवेग सहि अहे वर गढ सोहइ ते सु ए।
उवसमरोलि आवासु कीउ अहे धमध्यान वानउ लागउ ए ॥२॥

अत— इणिपरि परिणए जो अ जगि अहे लहइ सो सिद्धिपुरिवासु।
मागलिकु वीर जिण प्रभ ए अहे मांगलिकु चउवीह सघ ए ॥

॥ अतरग विवाह धवल वसत रागेन भणनीय ॥

चौदहवीं के उत्तरार्द्ध या पन्द्रहवी के प्रारभ की एक धवल आठ पद्यों की प्राप्त

हुइ है उसका नाम कयवन्न धवल है । इसकी प्रतिलिपि हमारे सग्रह में है ।

पन्द्रहवी शताब्दी म जयशेखरसूरि रचित नेमिनाथ धवल' तेरह पद्यों की मिलती है । इसका आदि अन्त इस प्रकार है—

आदि— द्वारिका धरि धरि मगल चार, समुद्र विजय, नरवर तणउ ए ।
सिवा देवी माडिय तणउ मल्हार नमी कुवर वर परणिइ ए ॥
उग्रसेन राय तणीय कुमारी राजल रूवि रलीयामणी ए ॥१॥

अत— राणी राजलि तणउ आमदु, कवि जण केतलउ कलवइ ए ।
जयजय जग गुरु नेमि जिणन्दु जिणि नेडइ जइपुरीउ ए ॥१३॥
इति श्री जय शेखर सूरि सु गुरु कृता श्री नेमि नाथ धउल ।

इसी शताब्दी के सुप्रसिद्ध कवि देपाल के 'आर्द्रकुमार विवाहलउ' मे धवल नामक लोक गीत या देशी का प्रयोग हुआ है । इसलिए उसका नाम भी कई प्रतियों में 'आर्द्र कुमार धवल' पाया जाता है । उसका आदि अन्त इस प्रकार है ।

आदि— माइ ए नयरइ सिंह दुवारि, पच कन्या रामती रमइ ए ।
चिहु पणि वरियला घम च्यारि, वरनवी पामइ पचमी ए ।

अत— अम्ह प्रिय वच्छरहावीयउ ए रमतलइ बार वरीस तु ।
बडउ लेसालिइए । जयवन्त हो जेवच्छ तू भलइ ससालीयउ ए ॥

इस रचना की दो प्रतिया हमारे सग्रह म हैं जिनमें से एक सवत १४९३ की लिखी हुई है ।

सोलहवीं शताब्दी में सेवक कवि रचित 'ऋषभदेव विवाहलउ' के नाम से दो रचनाए मिलती हैं जिनमें से एक सवत १५९० में रची गई है उसमें उस रचना का नाम 'धवल' दिया गया है । 'तस पय परसादिइ गायउ धवल जिणन्द' दूसरी रचना के प्रारम्भ में उसका नाम ऋषभ विवाहलो दिया है पर अत में दो पद्यों म उसका नाम 'धवल' भी दिया गया है । यथा—

ऐह धवल करतां प्राण विरोधी जेह ।
ऐह धवल गाई जिन आराहइ जेह नर नारी सदा
ते मुगती जाइ सुखीय थाइ बोलइ 'सेवक' इम सदा'

यह धवल बन्ध विवाहलो काफी बडा है । इसम ४४ ढाले हैं । इसका प्रचार भी बहुत हो रहा है । हमारे संग्रह में कई प्रतियां हैं ।

सतरहवी शताब्दी म तो धवल सज्ञा वाले बड़ काव्य रचे गये और व काफी बड़े बड़े हैं। इनका परिचय देन से पूर्व १६ वी शताब्दी की एक छोटी रचना नेमिनाथ धुल' के दो पद्य उद्धृत किय जा रहे हैं इसका राग 'भरवी' पद बन्ध बतलाया गया है। पद्य संख्या आठ है।

धवल संस्कृत शब्द का अपभ्रंश रूप धुल अथवा धोला हो गया और इसके बाद घोल' नाम प्रसिद्ध हुआ। गुजरात म वष्णव और विशेषत वल्लभ सम्प्रदाय म सकड़ो 'घोल' पद या गीत रचे गये। उनका सग्रह विविध घोल तथा पद सग्रह के दो भागों म गुजराती प्रतिलिपि म प्रकाशित हो चुका है। अब नेमिनाथ धुल क आदि अंत क पद्य दिय जा रहे हैं—

श्री नेमिनाथ धुल रागु भरवी पद बन्ध।
आदि— सहजि सलूणडी नारि मिलीअ सतेवड तेवडी ए।
राउलडा घर बारि नेमि कुमर वर जोयती ए॥१॥
अंत— इण परि नेमि कुमार गुण गाइ सवि कामिणी ए।
राणीय राजिमति भत्तार मंत्रि धारिसिय स्वामिणी ए॥८॥

इसी समय की इसी तरह की और भी कई धवलें मिलती हैं पर उन सबका परिचय देना यहा आवश्यक नही। जिस प्रकार रास पहले छोटे छोटे बनते थे और पन्द्रहवी शताब्दी से उनके आकार मे बढोत्तरी हुई उसी तरह भी पन्द्रहवी शताब्दी के प्रारम्भ तक तो छोटे छोटे गीतों क रूप म थ पर सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बड़े बड़े 'धवल बनने लग। इसका मुख्य कारण यह था कि छोटे छोटे धवल गीतो को उत्सवादि प्रसगो म स्त्रिया गाती थी। वहाँ लम्बे काव्यो को गाने का अवकाश न था पर जब रासों की तरह धवलों का कई ढालों म रचा जाना प्रारम्भ हुआ तो उत्सवादि प्रसगो के वे गेय गीत नही रहे।

सोलहवी शताब्दी की धवल सज्ञक दो बडी रचनाओ का उल्लेख पहल किया जा चुका है। इसी शताब्दी की एक और रचना शान्तिनाथ विवाहलु धवल प्रबन्ध आनन्द प्रमोद रचित प्राप्त है जिसकी रचना पाटण मे सवत् १५९१ म हुई। इसमे सोलहवें जैन तीर्थंकर शान्तिनाथ के विवाह आदि क जीवन प्रसगों का वर्णन है। इसे धवल प्रबन्ध और विवाहला दोनो नाम दिये गय हैं। चौसठ ढालो का यह एक सुन्दर काव्य है। आदि और अन्त के छ पद्य इस प्रकार हैं—

'आदि—सरसति सामिणी हंसला गामिणी मझ मनि एक उमालडु ए,

धवल प्रबंधिहि धार भवतर, सु दर शांति विवाहलु ए ॥

अंत—रचिउ संति विवाहलु धरि उमाहल, तु तु त्रिभुवन केरु नाहलु रे।

भवभय भंजन दालिद्र गंजण, वीर मेवाडा मंडणु रे ॥५२॥

इंद्र चउसठिइं करइ, स्नात्र चउसठि रे, ढाल चउसठि रच्या धवलबंधि।

संति समरथ देवा निज पद देवा, मागु भवि तुझ पयकमल सेवा।

पाटणमांहि श्रेकाणुआ मांहिरे, गुरू पुण्य गाइओ संति नाह रे।

नवरस सागर भणइ जेनारि नर, सुख आगर सपति लेह ए ॥५६॥

नामि नवनिधि रे अट्ठ महासिद्धि रे, भण आनंदलहे ऋद्धि वृद्धि ॥५७॥

कवि ने इसे 'नवरस सागर' नाम दिया है इसलिए इसका साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन होना भी आवश्यक है। इसकी हस्तलिखित प्रति हमारे संग्रह में भी है।

सतरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कवि 'ब्रह्म' ने शांतिनाथ विवाहलो—धवल और वासु पूज्य स्वामी धवल की रचना की। जिनमें से प्रथम काव्य की प्रति हमारे संग्रह में भी है। दोनों काव्यों के आदि अंत के पद्य इस प्रकार है—

आदि—आराधु भाविइं संतिकरण श्री संति,

गुरुआ गुरु वंदउ, टाली मननी चंति,

निर्वाणी नामइं शासन देवि सभाव

सोलम जिन थरणु धवल रचिसुहुऊ साव ॥१॥

अंत—शांति जिनेसर स्वामी सोलमउ गायो मन उल्लास,

श्री ब्रह्म कहइ नितु सवा सारतां पूरई आस ॥२१॥

आणंद आणी रे जग गुरु गाइयई

वासुपूज्य धवल का आदि अंत पद्य।

आदि - चउवीसइ जिण चरण लागीइ, वर श्रुतदेवी पासइ मागीइ।

लागीइ पाये श्री सुगुरुनइ, धवल रचिसु, सुहामणु।

अंत—रचयउ धवल जिन चरित वखाण्यउ जाणी गुरु मुखी मम।

ता थिर पढउ गुणउ भवियणजण जा वरतइ जिण धम

इसी कवि का एक नेमिनाथ धवल' चवालिस ढालो में प्राप्त है। उसका आदि अंत इस प्रकार है —

वेलि सञ्ज्ञक काव्य

जिस प्रकार लोक साहित्य मे बहुत सी बातें प्रान्त और देश का भेद न रखते हुए सवत्र एक सी पाई जाती है उसी प्रकार शिष्ट साहित्य मे भी रचनाओ की बहुत सी सज्ञाए शलिया आदि बहुत व्यापक प्रदेश में समान रूप से पाई जाती हैं। उन सज्ञाओ और शलियों की एकता व समानता के सबध में विशेष अनुसधान कर प्रकाश डाला जाना आवश्यक है।। समय समय पर उनमे जो परिवर्तन और अन्तर भेद हुए हैं उन पर भी सूक्ष्मता से विचार किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ विवाहला और मगल काव्यो की परम्परा बहुत दीघकालीन और विशाल रही है। राजस्थान गुजरात और हिन्दी भाषी प्रदेशों के अतिरिक्त बगाल तक म यह परम्परा देखने को मिलती है। इस सबध म मैंन तत्सम्बन्धी लेख में प्रकाश डाला है। इसी प्रकार वेलि या वेलि सज्ञक काव्या की परपरा भी राजस्थानी, गुजराती व हिन्दी साहित्य में दीघकाल से चली आ रही है। इसका सक्षिप्त परिचय देना ही प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

वेलि सज्ञक रचनाओं से स्पष्ट है कि ५०० वर्षों स इस सज्ञा की खूब प्रसिद्धि रही है। राजस्थानी भाषा की सवश्रेष्ठ कृति किसन रुक्मिणी री वेलि से तो सभी परिचित हैं। इस काव्य की लोकप्रियता का यह ज्वलत प्रमाण है कि रचना के थोडे समय बाद ही इसकी ढूढाडी मारवाडी और सस्कृत में आठ-दस टीकाएँ रची गयी और व्रज भाषा में भी इसका पद्यानुवाद लाहौरी गोपाल कवि न नौरस विलास के नाम से मिर्जा खान के लिये किया। राजस्थानी भाषा के किसी ग्रथ का प्राचीन व्रजभाषा में होने का यह एक उदाहरण ही है। ग्रन्थ से जन समाज का कोई सम्बन्ध न होने पर भी इसकी पाच छह टीकाए जन विद्वानो की रची हुई मिलती हैं जिनमें दो सस्कृत की और चार राजस्थानी की प्राप्त हैं।

प्रस्तुत किसन रुक्मिणी री वेलि स भी पूव रचित वेलि सज्ञक आठ दस रचनाए जन तथा जनेतर विद्वानो की उपलब्ध हैं। उनका परिचय हिन्दी ससार में तो प्राय

अविदित ही है और राजस्थानी भाषा की वलि स ज्ञक जैनेतर रचनाएँ भी करीब १५ मिलती हैं, उनकी भी जानकारी अभी तक प्राय नही है। केवल मेरे लेख के आधार से स्वामी नरोत्तमदास जी द्वारा सम्पादित "किसन रुकिमणी री वेलि" की प्रस्तावना मे १० रचनाओं के नाम ही दिये गये मिलते हैं, जबकि राजस्थानी, गुजराती और हिंदी की करीब ५० से अधिक वेलि सज्ञक रचनाओ की जानकारी मुझे प्राप्त है। उनका सक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

वेल, वेलि या वल्लरी ये तीनों स ज्ञाएँ एक ही अर्थ की पोषक हैं। पृथ्वीराज राठौड ने अपनी किसन रुकिमणी री वेलि म अपनी रचना को स ज्ञा वेलि रखने का कारण स्पष्ट करते हुए पद्यांक २९१ स ९३ में लिखा हैं —

वेली तसु बीज भागवत वायउ महि थाणउ प्रिथुदास मुख।
मूल ताल जड अर्थ मंडहइ, सु थिर करणी चढि छाह सुख ॥२९१॥
पत्र अक्खर दल द्वाला जस परिमल नव रस ततु विधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सु भगत मजरी मुगती फूल फल भुगति मिसि ॥२९२॥
कलि कलप वेलि वळि कामधेनुका, चिंतामणि सोम वेलि यत्र।
प्रगटित प्रथमी प्रिथु मुख पकजि अखर।उलि मिसि थई अेकत्र ॥२९३॥
प्रिथु वेलि कि पच विध प्रसिध प्रनाली आगम नीगम कजि अखिल।
मुगति तणी नीसरणी मडो सरग लोक सोपान इल ॥२९४॥

भावार्थ — यह वेलि वेलि (लता) के समान है। इसका बीज भागवत पुराण है। दास पृथ्वीराज का मुख पृथ्वी का वह स्थान है जिसमें यह बीज बोया गया। मूल पाठ इसकी डालियाँ हैं। अर्थ इसकी जड है। श्रोताओं के स्थिर (एकाग्रता से सुनने वाले) कान मडप हैं, जिनके ऊपर यह चढ़ी रहती है। सुख इसकी छाया है ॥२९१॥

अक्षर इसके पत्ते हैं। दोहल (पद्य) इसकी पखुडिया है। भगवान का यश इसकी सुगधी है। नवरस इसके ततु हैं। यह रात दिन बढती है भक्ति इसकी मजरी है। साहित्य रसिक इसके भ्रमर हैं। मुक्ति इसका फूल है और परमानद का भोग इसका फल है ॥२९२॥

कल्पना लता, कामधेनु चिंतामणि और सोमलता ये चारों पृथ्वीराज के मुख कमल से वलि के अक्षर समूह क रूप में एकत्र होकर इस कलियुग म पृथ्वी के ऊपर प्रकट हुई हैं ॥२९३॥

यह पृथ्वीराज कृत वेलि है अथवा समस्त निगमागमो तक पहुँचाने वाली सुप्र
सिद्ध पांच प्रकार की पगडंडी है अथवा स्वर्गलोक को ले जाने वाली सोपान श्रेणी है।
(स्वामी नरोत्तमदास जी द्वारा सम्पादित संस्करण से)

वेलि संज्ञक कई काव्य विवाह वर्णन प्रधान हैं। इसलिए प्रो० मंजुलाल मजूमदार
ने विवाह प्रसंगों के वर्णन वाले काव्य की संज्ञा वेलि मानी है। पर वास्तव में वेलि काव्यों
में विवाह वर्णन वाले काव्य बहुत थोड़े ही हैं। किसन रुक्मिणी वेलि आदि चारण
कवियो की रचित इस संज्ञा वाली रचनाओं म प्रयुक्त छन्द वेलियो गीत' के नाम से
भी प्रसिद्ध हैं मात्रिक छंदों की जाति म छोटा साणोर नामक एक छन्द है। उसके
चार उपभेदों में एक वेलियो भी है उसका लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

"मुहरावाली तुक महो मुहरामाहि मुणन्त।
वणे गीत इम वेलियो आद गुरु लघु अंत॥

स्वामी जी ने वेलियों का लक्षण इस प्रकार बतलाया है —

'जिसके चारो चरणों में क्रमश १६ १५ १६ १५ मात्राए हो। इसकी गति
वीर या आल्हा छन्द के समान होती है। अंत म ऽ आता है।'

गीत के प्रथम पद्य के प्रथम चरण म सर्वत्र दो मात्राए अधिक होती हैं। अर्थात
प्रथम चरण १६ मात्रा के स्थान पर २+१६=१८ मात्र का होता है। (ये अतिरिक्त दो
मात्राए चरण के आरंभ म अर्थात १६ मात्रा के पूर्व जुड़ती है चरण के अन्त में अर्थात
१६ मात्रा के बाद नहीं जुड़ती)

वास्तव मे न तो प्रो० मंजुलाल मजूमदार ने जो वेलि को विवाह वर्णन प्रधान
काव्य माना है वह लक्षण ही सर्वत्र मिलता और न वेलि संज्ञक समस्त काव्यो में वेलियो
गीत छंद ही प्रयुक्त हुआ है। वास्तव में वेलि संज्ञा लता के अर्थ म लोकप्रिय हुई और
अनेक कवियों ने उस नाम के आकर्षण से अपनी रचनाओं को वेलि इस अन्त्य पद से
संबोधित किया।

उपलब्ध वेलि काव्यो में सबसे अधिक रचनाए जैन विद्वानों की हैं। उसके
पश्चात चारण कवियों का स्थान आता है और तदनन्तर हिंदी म कवियो का फिर
जैनेतर गुजराती कवियों का। गुजराती म वेलि के नाम वाली चार पांच रचनाए ही मिलती
है। जैन कवियों में श्वेताम्बर कवियों की रचनाए ही अधिक हैं। दिगम्बर कवियो की
वेलि संज्ञक पांच रचनाएँ ही मिलती हैं।

वेलि सनक काव्यो का वर्गीकरण भाषा और विषय के आधार पर किया जा सकता है। भाषा उनकी हिन्दी, गुजराती राजस्थानी तीनों हैं। बहुत से काव्यों का विषय ऐतिहासिक व्यक्तियो का गुण वर्णन है कुछ मे देवी देवताओं की स्तुति है। कुछ पौराणिक व्यक्तियों स सबधित हैं तो कुछ जन धम से भी सबन्धित हैं। आग दी जाने वाली रचनाओं के परिचय से यह स्पष्ट हो जायगा।

उपलब्ध साहित्य में जन कवि वाछा (?) रचित चिहुगति बेलि' सबस प्राचीन है। जिसका रचना काल १५२० ई० के लगभग का है। १६वी शताब्दी मे सीहा लावण्य समय, सहज सुन्दर, इन श्वेताम्बरो, इसी प्रकार दिगम्बरो व जनेतरों की रचनाए भी प्राप्त होती हैं। १७वीं शताब्दी में जन कवियों और चारण कवियों ने बहुत सी वेलि नामान्त पद वाली रचनाए बनायी। १८वीं व १९वीं शताब्दी में भी यह क्रम जारी रहा। २० वीं शताब्दी की कोई उल्लेखनीय रचना प्राप्त नहीं है। वसे आज भी इस सज्ञावाली रचना की जाती है। 'विहुकम' क गत कार्तिक २०११ के अक में श्री मगल मेहता रचित 'ममता वेलि' नामक गद्य गीत प्रकाशित हुआ है। चिहुगति वेलि' से भी पहिले की रचना भी प्राप्त होनी चाहिए, पर जब तक उसका पता न चले वेलि सज्ञक काव्य की परपरा पाच सौ वर्ष दीघ तो सिद्ध है ही। गुजरात, राजस्थान और हिन्दी प्रधान देशो के अतिरिक्त बगाल महाराष्ट्र आदि में वेलि सनक रचनाए हो तो उनकी जानकारी प्रकाश में आनी चाहिए।

उपलब्ध सब प्रथम रचना 'चिहुगति वेलि' जन धम के अनुसार मनुष्य, देव, तियक् और नारकी इन चार गतियों के दुखो का वर्णन करने वाली है। हमारे सग्रह की प्राचीन प्रति क अनुसार इसमें ११३ पद्य हैं। अ य प्रतियों में १४२ पद्य मिलत हैं प्रारभ और अत के कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे हैं —

दव दया पर नमि निरजन, सज्जन कोई विचारी।
विषय कसाय वाकि मनवारी, प्रावण पू समारी।
किहाधु धाविघों किहा तु जाइसि, चाइसि केट्वड प्राणी।
अ सतार पराभव पेखी, जोइ चेतना प्राणी॥
ममता माया सु मन वासिय करइ कसाइ कर्म।
समय शील परिमा विसारी भाडियड घर कर्म।

लख चरोसी योनी भमता माणस जउ भव लाधो ।
एक सदा जिनवाणी उचारि भ्राज भ्रापणो साधो ॥

अन्य प्रतियो म प्रारंभ के पद भिन्न प्रकार क भी मिलते हैं। इस रचना म नरक गति के दुखों का विशद वणन है इसलिए इसकी एक प्रति मे 'नरक वेदनानी वेलि' नाम भी लिखा मिलता है। अत के कुछ पद्य इस प्रकार हैं —

गिणी काज जिन पूज कीजइ सुगुरु वही जइ प्राण ।
भवियण श्री जिण धम करता पामीसिइ कल्याण ॥१३२॥
ऐ चिहु गतिनि वेलि विचारि, जे पालइ जिण भ्राण ।
तेहना चरण कमल नइ पासइ हूँ वाछु गुण ठाण ॥१३३॥

यद्यपि अतिम पद में वाछु 'शब्द चाहता हूँ' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है पर श्री मोहनलाल दलीचद देसाई ने जन गुर्जर कवि भाग १ और ३ म वच्छा या वाछो कवि की रचनाओ मे इस भी सम्मिलित किया है।

इसी के भ्रास पास की सिहा कवि की दो छोटी छोटी रचनाए प्रकाशित हो चुकी हैं। जिन्हें स १५३५ की लिखित प्रति मे नकल कर जैन युग पुस्तक पाच पृष्ठ ७३ से ४७७ तक म प्रकाशित किया गया है। इनमे जम्बू स्वामि वेलि १८ पद्यो की है और रहनमि वेलि १६ पद्यो की है। जैसलमेर भडार म इसी कवि की नेमिवेली १५ पद्यों की देखी थी। वह उपयुक्त रहेनमि वलि से भिन्न है या अभिन्न प्रति पास न होने से निश्चय रूप से नही कहा जा सकता।

इनकी परवर्ती रचना लावण्यसमय रचित गभवलि हैं जो ११४ पद्यो की है। इसी नाम की ४४ पद्यो की अन्य रचना भी सहज सुन्दर कवि की प्राप्त होती है। पृथ्वीचन्द्र गुणसागर वेलि की दो पत्रो की प्रति धरान्य के भंडार मे है सभवत वह भी १६ वी शताब्दी की हो। १७ वी शताब्दी में वलि नामवाली रचनाए सबसे अधिक मिलती है जिनकी नामावली इस प्रकार है।

सम्यक्त्व वेलि प्रबन्ध		
गुणठाणा वेलि	साधु कीर्ति	
लघु बाहु बलि वेलि	जीवधर	स० १६१४ के भ्रासपास
जम्बू पद वेलि	शान्तिदास	स० १६१६ (लिपिकाल)
	कनक सोम	स० १६२५ (लिपिकाल)
		स० १६२५

गुरु वेलि		
स्थूलिभद्र मोहन वेलि	भट्टारक धमदास	स० १६३८ से पूर्व
नेमिराजुल बारहमासा वलि प्र०	जयवंत सूरि	स० १६४८
वीर वद्धमान जिन वेलि	,	स० १६५० के आसपास
साधु कल्पलता साधु वदना	सकलचन्द्र उपाध्याय	स० १६४३ ३० के मध्य
मुनिवर सुर वेलि		
हीर विजय सूरि देशना वलि		
ऋषभ गुण वेलि		
बलभद्रवेलि	ऋषभदास	स० १६५२ के बाद
चार कषाय वेलि	सालिग	स० १६६६ ८७ के मध्य
सोमजी निर्वाण वेलि	विद्याकीति	स० १६६६ (लिपिकाल)
प्रतिमाधिकार वेलि	समय सुन्दर	स० १६७० के आस पास
वृद्धगभ वेलि	सामत	स० १६७०
पचगति वेलि	रत्नाकर गणि	स० १६७५ (लिपिकाल)
पार्श्वनाथ गुण वेलि	हर्ष कीर्ति	स० १६८०
मल्लिदासनी वेलि	जिनराज सूरि	स० १६८३
आदित्य वारनी वेल कथा	ब्रह्मजय सागर	स० १६८६
		१७ वी शती

वेलि सज्ञक जैनेतर राजस्थानी रचनाए

चारणादि कवियों की वेलि रचनाए भी काफी मिलती हैं पर उनका समय निश्चित नहीं फिर भी अधिकाश रचनाओं का समय १७वी व १८वी शती का प्रारम्भ ही प्रतीत होता है। किसन रुक्मिणी वेलि के अनुकरण में आशा किसना कवि ने महादेव पावती वेलि की रचना की जिसकी प्रति अनूप स स्कृत लाइब्रेरी में है। इन दो के अतिरिक्त दो अन्य रचनाएं छोटी छोटी उपलब्ध हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है —

१ आई माता जी री वेलि — प्रकाशित मरु भारती वर्ष ३ अक १

यह सत महेन्द्र रचित है। शिवसिंह चोयल ने इसके अतिम पद्य में जो स० १५७६ का उल्लेख है उसे इसका रचनाकाल माना है पर वह विचारणीय है।

रूपाम्बेरी वेलि — इस नाम की दो रचनाओं को मैंने मरु भारती वर्ष २ अक ३ में प्रकाशित किया है। उनका रचनाकाल १५वीं व १६वी शताब्दी का है। अन्य

लख चरीसी योनी ममता, माणस जउ भव लाधो ।
एक सदा जिनवाणी चारि, श्राज श्रावणी साधो ॥

अय प्रतियो म प्रारभ के प भिन प्रकार के भी मिलते हैं। इस रचना म नरक गति के दुखों का विशेष वरणन है इसलिए इनकी एक प्रति म 'नरक वेदनाभी वेलि' नाम भी लिखा मिलता है । अत के कुछ पद इस प्रकार हैं —

गिणी काज जिन पूज कीजइ सुगुरु यही जइ प्राण ।
भवियण थी जिण धम करता पामीतिइ कल्याण ॥१३२॥
गे चिहु गतिनि वेलि विचारि, जे पालइ जिण प्राण ।
तेहना चरण कमल नइ वासइ, हूं वाछु गुण ठाण ॥१३३॥

यद्यपि अतिम पद में 'वाछु" श " चाहता हू" अथ म प्रयुक्त हुआ है पर श्री मोहनलाल दलीचद देसाई ने जन गुर्जर कवि भाग १ और ३ मे वच्छा या वाछो कवि की रचनाम्रा म इस भी सम्मिलित किया है ।

इसी के श्रास पास की सिहा कवि की दो छोटी छोटी रचनाए प्रकाशित हो चुकी हैं। जिन्ह म १५२५ की लिखित प्रति से नकलकर जैन युग पुस्तक पाच पृष्ठ ७३ से ४०७ तक म प्रकाशित किया गया है । इनम जम्बू स्वामि वेलि १८ पद्या की है और रहनेमि वेलि १६ पद्यो की है । जैसलमेर भडार म इसी कवि की नमिवेली १५ पद्यों की देखी थी । वह उपयुक्त रहेनमि वेलि से भिन्न है या अभिन्न प्रति पास न हान से निश्चय रूप से नही कहा जा सकता ।

इनकी परवर्ती रचना लावण्यसमय रचित गभवेलि हैं जो ११४ पद्यो की है। इसी नाम की ४४ पद्या की अ य रचना भी सहज सुन्दर कवि की प्राप्त होती है । पृथ्वीचन्द्र गुणसागर वेलि की दो पद्यो की प्रति धराद के भंडार म है सभवत वह भी १६ वी शताब्दी की हो । १७ वी शता ी में वेलि नामवाली रचनाए सबस अधिक मिलती हैं जिनकी नामावली इस प्रकार है ।

सब्वत्य वेलि प्रबन्ध	साधु कीर्ति	स० १६१४ के आसपास
गुणठाणा वेलि	जीवधर	सं० १६१६ (लिपिकाल)
लघु बाहु बलि वेलि	शातिदास	स० १६२५ (लिपिकाल)
जइत पद वेलि	कनक सोम	स० १६२५

गुरु वेलि	भट्टारक धर्मदास	स० १६३८ से पूर्व
स्थूलिभद्र मोहन वेलि	जयवंत सूरि	स० १६४८
नेमिराजुल बारहमासा वेलि प्र०	,,	स० १६५० के आसपास
वीर वर्द्धमान जिन वेलि	सकलचन्द्र उपाध्याय	स० १६४३ ३० के मध्य
साधु कल्पलता साधु वदना		
मुनिवर सुर वेलि	,	,,
हीर विजय सूरि देशना वलि	,	स० १६५२ के बाद
ऋषभ गुण वेलि	ऋषभदास	स० १६६६ ८७ के मध्य
बलभद्रवेलि	सालिग	स० १६६६ (लिपिकाल)
चार कषाय वेलि	विद्याकीर्ति	स० १६७० के आस पास
सोमजी निर्वाण वेलि	समय सुन्दर	स० १६७० ,
प्रतिमाधिकार वेलि	सामत	स० १६७५ (लिपिकाल)
वृद्धगभ वेलि	रत्नाकर गणि	स० १६८०
पचगति वेलि	हर्ष कीर्ति	स० १६८३
पार्श्वनाथ गुण वेलि	जिनराज सूरि	स० १६८६
मल्लिदासनी वेलि	ब्रह्मजय सागर	१७ वी शती
आदित्य वारनी वेल कथा		

वेलि सज्ञक जैनेतर राजस्थानी रचनाए

चारणादि कवियों की वेलि रचनाए भी काफी मिलती हैं पर उनका समय निश्चित नही फिर भी अधिकाश रचनाओं का समय १७वीं व १८वीं शती का प्रारम्भ ही प्रतीत होता है। किसन रुक्मिणी वेलि के अनुकरण में भाग्य विमला कवि ने मन्दाल पावती वेलि की रचना की जिसकी प्रति अनूप सस्कृत लाइब्रेरी में है। इन के अति रिक्त दो अन्य रचनाए छोटी छोटी उपलब्ध हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है —

१ आई माता जी री वलि — प्रकाशित मरु भारती वर्ष ३ अक १

यह सत सहदेव रचित है। जिसमें चौपर न इसके अन्तिम पद्य में स० १५७६ का उल्लेख है उसे इसका रचनाकाल माना है पर वह विचारणीय है।

रूपादेरी वेलि — इस नाम की दो रचनाओं को मैंने मरु-भारती वर्ष २ अक ३ में प्रकाशित किया है। उनका रचनाकाल १५वीं व १६वीं शताब्दी का है। अन्य

रचनाएं इस प्रकार हैं —

१ किसन जी री वेल	साखला करमसी रूणेचा	१६०० के आसपास
२ गुण चाणिक वेल	चूंडो दधवाडियों	१७ वी शती का प्रारंभ
३ राठौड़ देवीदास जतावत री वेल	बारट अखो भाणोत	१६११ के आसपास
४ राठौड़ रतनसी खीवावत री वेलि		१६१४ के आसपास
५ राणे उदयसिंह जी री वेलि	आढा किसना	१६६० १७०० के मध्य
६ चांदा जी री वेल	बीठू मेहो दुसलाणी	१६२४ के बाद
७ क्रिसन रुक्मणि री वेलि	राठउड़ प्रथुदास	१६३७ ४४ के मध्य
८ त्रिपुर सुंदर री वलि	जसवत	१६४३ लिपिकाल
९ राजा रायसिंह जी री वेलि	सांदू मालाजी	१६५३ के आसपास
१० महादेव पार्वती री वेलि	गाडण चेलो	१६७२
११ राउ रतन री वेलि	महडू कल्याणदास	१६६४ ८८ के मध्य
१२ राजा सूरसिंह जी री वेलि	गाडण चेलो	१६७२
१३ राव श्री मालदेव जी री वेलि		
१४ डूंगरसिंह जी री वेलि	समधा	

१८ वी शताब्दी की जन रचनाओं में बारह भावना वेलि जय सोम (स० १७०३ में) रचित कई प्रतियों मे ही उसे वेलि सज्ञा दी है। अधिकाश प्रतियों म नहीं है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित वलिया उपलब्ध हैं —

१ प्रवचन सार रचना वेलि	वेगड जिन समुद्र सूरि	
२ गुणसागर पृथ्वी वेलि	गुणसागर	१७२४ के आसपास
३ षड लेश्या वेलि	साह लोहट	१७३०
४ अमृत वलि सज्भाय	यशोविजय	१७०० १७३९ के मध्य
५ सुजश वेलि (जस वेलडी)	काति विजय	१७४५ के आसपास
६ स ग्रह वेलि	बालच द	१०४५
७ नेम राजुल वेलि	चतुरविजय	१७७६
८ नेमि स्नेह वेलि	जिनविजय	
९ विक्रम वेलि	मतिसुन्दर	
१० रघुनाथ चरित नवरस वेलि	महेसदास	१८ वीं शती का प्रारंभ

११ म मनोपसिंघजी री वेलि	गाडण वीरभाण	१७२६ में पूर्व
१२ पीर गुमानसिंघ जी री वेलि		१८ वीं शती का अंत

१६ वीं शताब्दी की रचनाएं भी बहुत सी मिलती हैं। उपलब्ध विवरण निम्न लिखित है —

१ जीव वेलड़ी	देवीदास	१८२४ के आसपास
२ वीर चरित्र वेलि	भान उद्योत	१८२५ के ,,
३ गुण वेलि	धीर विजय	१८६०
४ सील वेलि	,,	१८६२
५ स्थूल भद्र का रस वेलि	माणक विजय	१८६७
६ नमि राजिमती स्नेह वेलि	उत्तम विजय	१८७८
७ सिद्धाचल सिद्धि वेलि	,,	१८८४
८ नमिनाथ रस वेलि	,	१८८६
९ नेमि स्नेह वेलि	जिन विजय	

इनके अतिरिक्त छन्द जात भ्रमर वेलि और दया वलि का उल्लेख ऐसियाटिक सोसाइटी के जैन ग्रन्थ की सूची में है तथा आध्यात्मिक प्रमाद वेल का उल्लेख पढ़ा था पर वह देखने में न आने से उसके रचयिता और रचना काल का पता नहीं है।

वेलि संज्ञक हिन्दी रचनाएं

हिन्दी भाषा में कबीर के बीजक में वलि नाम की एक छोटी सी रचना है, जिसमें प्रत्येक पंक्ति के अंत में ही रमैया राम शब्द आते हैं। परन्तु बीजक की प्रामाणिकता संदिग्ध है अतः स्वामी नरोत्तमदास जी की सम्मति में कबीर के नाम से संग्रहीत यह वलि कबीर की रचना नहीं है।

तुलसीदास की "मनोरथ वल्लरी" नामक एक रचना प्रसिद्ध है। इसी नाम की एक अन्य रचना भगवानदास और रामराज की प्राप्त हुई है। वृन्दावनदास की वेलि संज्ञक आठ रचनाएँ बतलायी गयी हैं। इसी प्रकार घनानन्द रचित "रस केलि वल्लि" और वियोग वेलि तथा नागरीदास रचित वैराग्यवल्लरी और कील वराग वल्लरी प्रकाशित हो चुकी है। व्रजनिधि ग्रन्थावली में जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह रचित दुःख हरण वेलि और दादू ग्रंथावली में दादू रचित काया वेलि छप चुकी हैं।

जनेतर गुजराती वेलि रचनाए

जनेतर कवियों द्वारा रचित गुजराती रचनाओं में "वल्लभ वेलि" एक ऐतिहासिक काव्य है जो कि केशव दास वैष्णव ने १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रचा है इसमें स० १६७७ मे गोकुलनाथ जी गोकुल आए वहा तक का ऐतिहासिक वृत्तांत है। वल्लभाचार्य का जन्म संवत् इसमें १५२९ बतलाया गया है। प्रसंगो का संवत् वार उल्लेख इसमे महत्वपूर्ण है। वैष्णव धर्म पताका मासिक के पोष १९८१ के अंक में यह छप चुकी है।

दूसरी रचना सीता वेल कवि वजिया की है। इसके पांच कडवको म राम के साथ सीता का वर्णन है। सीता का स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है —

सीता रूप अलेखित वनिता करे वखान।
सीता वेल सुरंग रचि जिमि सरोवर सारग पानि।

गुजरात विद्या सभा म इसकी प्रति है। प्राचिन काव्य विनोद म यह छप चुकी है।

जीवनदास रचित श्रुतवेल का उल्लेख हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में मिलता है। प्रेमानंद रचित व्रजवेल म प्रधानतया कृष्ण के बाल चारित्र का सरस भाषा में वर्णन है। कवि दयाराम रचित भक्तवेल मे भक्तो का चरित्र पाया जाता है। रसवेलि नाम की एक रचना स १७३८ की ज्ञात हुई है। स० १६०७ मे केशव किशोर रचित श्रीकीरतलीला में वल्लभ कुल की वेलि का उल्लेख मिलता है।

द्राविड भक्ति उत्पन्न हे गुजर पर स जानि
प्रगट श्री विट्ठल नाथ जू बोमी बेलि बढानि ॥१७१॥
श्री द्वारकेस्वर जु कृपा करी लीनी हो अपनाय।
श्री वल्लभकुल की बेलि पर केशव किशोर बलि जाय॥

यहा वेलि शब्द का अर्थ 'भक्ति की वेलि" समझना चाहिए।

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि दिगम्बर श्वेताम्बर और जनेतर रचित वेलि सज्ञक रचनाओं का प्रारंभ १६वी शताब्दी स होता है। सबसे अधिक रचनाए श्वेताम्बर कवियों की है, जिनमें अधिकांश छोटी छोटी है। जनेतर राजस्थानी रचनाओं में कृष्ण

रुक्मिणी और महादेव पार्वती वेलि ही बडी है, बाकी सब छोटी छोटी हैं। हमीर कवि ने स० १७८६ म नवमाला वलियो छन्द मे रची।

दिगम्बर कवियो द्वारा रचित वेलि

दिगम्बर जैन कवियों द्वारा रचित कई वेलि काव्यो का उल्लेख जयपुर दिगम्बर ग्रन्थ सूची भाग २ मे पाया जाता है। जिनमे से पचेंद्रिय की वेलि ठाकुरसी कवि द्वारा रचित स० १५८५ की सबसे पुरानी है। इसकी हस्तलिखित प्रति हमारे सग्रह मे भी है, जिसमे रचनाकाल १५५० दिया है। आदि अत इस प्रकार है—

वन तरुवर फल खातु फिर, पय जीवतो सुछन्द
परसरा इन्द्रा प्रेरियो बहु दुख सहई गयद
कवि गेल्ह सुतनु गुण धामु, जग प्रगट ठकुरसी नामु।
केरि वेलि सरस गुणगाय, चित चतुर मनुष्य समझाया।
मन मूरख सख उपाई, तिरितेण चितिन सुहाई
नहीं जम्यों रवण पसारो, इह एक वचन स सारो।
सवत पदरे से पचासे तेरिस सुद कातिक मास।
जिहि मनु इद्रिय वसि किया तिहि हरत परत जग जिया।

इसी कवि द्वारा रचित नमिराजमति वेलि और गुण वेलि तथा गेल्ह रचित नमि वलि का उल्लेख जयपुर भडार सूची म है। य तीना रचनाए भि । है या अभिन्न प्रतियों क मिलान पर ही निश्चय हा सकता है। इसी सूची म भारत की वलि का उल्लेख है। दिल्ली के पचायती मदिर की सूची में १४ गुण स्थान वलि का उल्लेख है जा यशःकीति के शिष्य ब्रह्मचारी जीवन धर रचित है। हमार सग्रह मे हर्ष कीति रचित पचगीत वेलि भी प्राप्त है जो संवत् १६३ म रची गयी है। पच इद्रिय वलि के साथ ही यह लिखी मिली है। दोनों एक ही शली की है। आदि अत इस प्रकार है—

आदि— किसन जिनसर आदि करि, वद्ध मान जिन अत।
नमस्कार करि सरस्वती, वरणो वेलि मन्त।
मिथ्यामोह प्रमाद मद, इन्द्री विषय कसाय।
जोग असजय सू भरे जीव निगोन्ह जाय।
अत इक में इक सिद्ध अनन्त, आ मिल जोति रहा गुणवत।

छिहि ण न जरा नहीं वीस, सुख काल अनन्त गमीसे।
सुभ सवत सोल तियासे, नवमी तिथि श्रावण मासे।
भवि लोक सम्बोधन कोजे कवि हर्षकीरत गुण राजे॥

इसमें सबस प्राचीन श्वेताम्बर रचना चिहुँगति बेलि की भाति चार गतियो क दुखो का वर्णन करते हुए पचम मोक्ष गतियो के दुखों का वर्णन करते हुए पचम मोक्ष गति का वर्णन है। खोजने पर, सभव है और भी कुछ रचनाओं का पता चले। ये रचनाए छोटी छोटी हैं इसलिए उनका उल्लेख सूची पत्रो म कम ही मिलता है।

इन समस्त बेलि सज्ञक रचनाओ का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन किया जाना आवश्यक है। अच्छा हो इनका एक सग्रह ग्रन्थ प्रकाशित किया जाए।

रेलुआ संज्ञक रचनाए

प्रत्येक वस्तु की संज्ञा का कुछ न कुछ कारण होता है। उस संज्ञा की अपनी परम्परा होती है, जिसका अन्वेषण बड़ा रोचक और ज्ञानवर्द्धक होता है। साहित्यिक रचनाओं के नामों के भी विविध प्रकार हैं। कई रचनाओं को उसके आद्य पद से प्रसिद्धि हो जाती है जैसे "भक्तामर" 'कल्याण मन्दिर' आदि। कई रचनाओं का नामकरण उनके विषय पर तथा कई रचनाओं का पद संख्या के आधार पर। लोकभाषा की रचनाओं में उनके विशेष ढाचे वर्ण्य-विषय छन्द आदि के आधार से सकड़ों संज्ञाएँ पायी जाती हैं। जैसे फागु विवाहलउ, रास, भास, धवल, धमाल चचरी, वेलि, संवाद, संधि, पवाड़ा आदि सैकड़ों राजस्थानी एवं गुजराती भाषा की जैन रचनाएँ पायी जाती हैं। जिनमें से कुछ रचनाओं का परिचय मैंने एवं प्रो० हीरालाल रसिकदास कापड़िया ने जैन सत्यप्रकाश जनधर्म प्रकाश, राजस्थानी, कल्पना श्रमण आदि में प्रकाशित किया है। ऐसी रचनाओं की लगभग १२५ संज्ञाए मैंने एकत्रित की हैं जिनमें से कुछ पर अपने राजस्थान विश्वविद्यापीठ उदयपुर के सूयमल आसन मे दिये हुए भाषण "राजस्थानी जन साहित्य" शीर्षक में प्रकाश डाला है। यहा पर एक ऐसी अप्रसिद्ध संज्ञावाची रचना का परिचय दिया जा रहा है जिसका आज तक "जैन गुर्जर कवियों' आदि किसी ग्रन्थ में उल्लेख देखने में नहीं आया।

बारह वर्ष हुए जैसलमेर के ज्ञान भण्डारों का अवलोकन करने के लिये हम प्रथम बार जब वहा पहुँचे तो वहा के बड़े ज्ञानभंडार आदि की समस्त कृतियों का भली भांति अवलोकन कर कतिपय प्राचीन संग्रह प्रतियों में से प्राचीन राजस्थानी की रचनाओं की प्रतिलिपियां कीं। तभी सब प्रथम हमें 'रेलुआ' संज्ञक चार पाच रचनाओं की उपलब्धि हुई जो सभी खरतरगच्छीय रचनायें हैं और उनका रचनाकाल सं० १३३१ से १३८८ के बीच का है। अभी तक इसके पहले और पीछे की किसी शताब्दी की इस संज्ञावाली रचना हमारे जानने में नहीं आयी।

रेलुआ' स ज्ञावाली प्राप्त रचनाओं म उनके रचयिताओं ने कही भी इस नाम का प्रयोग नहा किया है। उन रचनाओं म इस स ना का उल्लेख प्रतिलेखन पुष्पिका म पाया जाता है। प्राप्त सभी रचनाओ का छन्द एक ही प्रकार का है, और लोकगीतो की भांति पहले पद्य के अन तर प्रत्येक गाथा के बाद दुहरायी जान वाली आचली पायी जाती है, इसस रेलुआ नामक किसी लोक गीत की चाल म इन गीतों का निर्माण हुआ है और इसी कारण इन रचनाओ के अ त मे रेलुआ स ना का प्रयोग कर दिया गया है। रेलुआ को कही रेल्हुआ भी लिखा है। य लोक गीत मूलरूप म क्या था इसका पता लगाना आवश्यक है।

प्राप्त रचनाओं में शालिभद्र रेलुआ' भगवान महावीर कालीन मुनिराज क स बन्ध म तथा अवशिष्ट सभी खरतरगच्छाचार्यों या उनकी परम्परा से सम्बन्धित है। जसलमर क बडा उपाश्रय स्थित पचायती भडार म स० १४३७ वसाख शुक्ला २ खरतरगच्छाचाय जिनराजसूरिजी के उपदेश व्य० देदा की पुत्री माकूर श्राविका ने लिखायी हुई स्वाध्याय पुस्तिका लिखी थी जिसके प्रारभ एव मध्य के कई पत्र प्राप्त नही है ये रेलुआ स ज्ञक रचनाए इसी प्रति मे प्राप्त हुई है। प्राप्त रचनाओ की सू इस प्रकार है —

१ जिनकुशलसूरि रल्हुआ — गा० १० जयधमगणि पत्राक ४१२ म
२ शालिभद्र रेलुआ — गा० ८ पत्राक ४१४ म
३ गुरावली रलुआ — गा० १३ सोममूर्ति पत्राक ४३८
४ श्री जिनच द्रसूरि रल्हुआ — गा० ८ चारित्रगणि पत्राक ४४०
५ जिनप्रबोध सूरि वणन (रेलुआ) गा० १० पद्मारत्न पत्राक

अब यहा इन रचनाओ का आद्य पद दिया जाता है, जिसस इसकी रचना व छन्द सम्ब धी ठीक से पाठकों को परिचय मिल जायगा।

श्री जिनकुशलसूरि रेल्हुआ आदि पद

धनु धनु जल्हो मतिवरु धनु जयतनदेविय इत्थय गुणसपुन्न।
जाह तणइ कुलि अव-रिउ परवाइय गजणो सिरि जिणकुशल मुणिंद ॥१॥
हलि हलि गुरु गिहिमाह मालिहयइ जिणकुशलसूरि गुरु सनिग्गइ।
लब्भइ जिन भव पार ए ॥ आचलो ॥

श्री सालिभद्र रेलुश्रा श्रादि पद

राजगही उद्यानपति श्रमि वीर समसरिउ घन एसउ सालिभद्र।
निय निय रिय मनु हरपियउ, त्रिभुवनगुरु पूछियउ वदाविसु सुभद्र ।१॥
तर तेय मुनि वेउ पागुरिया धनु सालिभद्र
विहरण चलिया निय जणणि हामि पारिसउ ॥२॥ श्रावली

गुरावली रेलुश्रा श्रादि पद

वर्धहिमगु जिणि पयडु करि सहि श्रणहिल पाटणि वाद्दय जगि जसढक्क
सो जिणेसरसूरिगुरुरयणमणि भावहि जे नर ते समारह चक्क ॥१॥
नर जुगपहाण गुरुवरिय हाट निय कठि तउ तिय लोय सारू।
ए मुक्तिरमणि जियु तुम्ह वरेइ ॥ श्रचला ॥

'रलुआ' स ज्ञावाली प्राप्त रचनाओं म उनक रचयिताओं ने कही भी इस नाम का प्रयोग नही किया है। उन रचनाओं के इस स ना का उल्लेख प्रतिलेखन पुष्पिका म पाया जाता है। प्राप्त सभी रचनाओं का छन्द एक ही प्रकार का है, और लोकगीतो की भाति पहले पद्य के अनन्तर प्रत्येक गाथा क बाद दुहरायी जाने वाली आवली पायी जाती है, इसस रेलुआ नामक किसी लोक गीत की चाल म इन गीतों का निर्माण हुआ है और इसी कारण इन रचनाओ के अ त मे 'रेलुआ स ज्ञा का प्रयोग कर दिया गया है। 'रेलुआ को कही रल्हुआ' भी लिखा है। य लोक गीत मूलरूप म क्या था इसका पता लगाना आवश्यक है।

प्राप्त रचनाओं मे 'शालिभद्र रलुआ' भगवान महावीर कालीन मुनिराज के स बन्ध म तथा अवशिष्ट सभी खरतरगच्छाचार्यो या उनकी परम्परा स सम्बन्धित है। जसलमर के बडा उपाश्रय स्थित पचायती भडार म स० १४३७ वशाख शुक्ला २ खरतरगच्छाचाय जिनराजसूरिजी क उपदेश न्य० देदा की पुत्री माकूर श्राविका ने लिखायी हुई स्वाध्याय पुस्तिका लिखी थी, जिसके प्रारभ एव मध्य के कई पत्र प्राप्त नही है ये रेलुआ स नक रचनाए इसी प्रति मे प्राप्त हुई है। प्राप्त रचनाओ की सूची इस प्रकार है —

१ जिनकुशलसूरि रल्हुआ — गा० १० जयधमगणि पत्राक ४१२ म
२ शालिभद्र रेलुआ — गा० ८ पत्राक ४१८ म
३ गुरावली रलुआ — गा० १३ सोममूर्ति पत्राक ४३८
४ श्री जिनच द्रसूरि रल्हुआ — गा० ८ चारित्रगणि पत्राक ४४०
५ जिनप्रबोध सूरि वणन (रेलुआ) गा० १० पद्मारत्न पत्राक

अब यहा इन रचनाओ का आद्य पद दिया जाता है जिसस इसकी रचना व छन्द सम्बन्धी ठीक से पाठकों को परिचय मिल जायगा।

श्री जिनकुशलसूरि रेल्हुआ आदि पद

धनु धनु जल्हो मन्त्रिवरु धनु जयतचदेविय इत्थाय गुणसपुन्न।
जाइ तणइ कुक्षि अवतरिउ परवाइय गमणो सिरि जिणकुशल मुणिंद ॥१॥
हलि हलि गुरु गिहिमाह मालिहयइ जिणकुशलसूरि गुरु सनियइ।
लब्भइ जिन भव पार ए ॥ अचली ॥

श्री शालिभद्र रेलुआ आदि पद

राजगृही उद्यानपति भमि वीरु समसरिउ धन्न दहउ सालिभद्र।
नित नित दिन मनु हरषियउ, त्रिभुवनगुरु पूछियउ नदाविसु सुभद्र । १॥
तउ तेथ मुनि वड पागुरिया धनु सालिभद्र
विहरण चलिया निय जणणि हाथि पारिसउ ॥२॥ आवली

गुरु आवली रेलुआ आदि पद

वन्दिमग्गु जिणि पयडु करि सहि अणहिल पारणि बाद्दय जगि जसदक्क
सो जिणेसरसूरिगुरुरयणमणि भावहि जे नर ते ससारह थक्क ॥१॥
नर जुगपहाण गुरुवरिय हारु निय कठि तउ तिय लाय सारू।
ए मुक्तिरमणि जिणु तुग्ह वरेइ ॥ आवली ॥

पवाडा संज्ञक रचनाएं

भारत का एक विशाल देश है। प्रारम्भ से ही यह अनेक प्रदेशा के समूह के रूप मे विख्यात रहा है। जन परम्परा के अनुसार इसका भारत नामकरण भ ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत क नाम पर हुआ है। भ० ऋषभदेव ने त्यागी जीवन स्वीकार करने से पूव अपने अन्य ९९ पुत्रो को अपना राज्य बाट दिया था। उन्होंने जिस जिस प्रदेश पर राज्य किया वह वह प्रदेश उसके नाम से प्रसिद्ध हो गया। समय समय पर शासकों के नाम बदलते गय तथा इनकी सख्या घटती बढती रही। जनागमो में २५॥ आर्यदेशों के नाम पाए जाते हैं और बौद्ध ग्रन्थो मे १६ जनपदों का उल्लेख है। वसे थोडी दूर पर भी रीति रिवाज आदि में भिन्नता पाई जाती है अत प्रदेशों मे तो पारस्परिक भिन्नता अधिक मात्रा मे पाया जाना स्वाभाविक ही है। जनागमों मे १८ प्रकार की भाषाओं का भी उल्लेख है पर उनके नाम नहीं मिलत। वसे मागधी मगध देश का, शौरसनी— शूरसेन (मथुरा) प्रदेश की महाराष्ट्री महाराष्ट्र की इस प्रकार भिन्न प्रदेशों की विशेषता को प्रधानता देकर उन प्रदेशों के नाम से ही भाषाओं के नाम प्रसिद्ध रहे है। वि० स० ८३५ मे रचित कुवलयमाला नामक जैन ग्रन्थ में तत्कालीन प्रसिद्ध १८ देशी भाषाओं के उल्लेख के साथ १६ भाषाओं की विशेषताओं के उदाहरण भी दिए गये है, जो हमारी प्रान्तीय भाषाओं की प्राचीन विशेषताओं पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

भारत की प्रधान प्रान्तीय भाषाओं के क्रमिक विकास का अध्ययन करने के लिये जन साहित्य बहुत ही महत्वपूर्ण साधन है। जनों का प्राचीन साहित्य अर्धमागधी प्राकृत म है जो कि ढाई हजार वष पूव मगध तथा उसके आस पास के प्रदेश की भाषा थी। इसके बाद जब जन धम का प्रचार शूरसेन महाराष्ट्रादि पश्चिमी तथा दक्षिण प्रदेशों की ओर बढने लगा तो जनाचार्यों ने इन प्रदेशों की भाषाओं मे भी ग्रन्थ रचना प्रारम्भ की। जहा तक महाराष्ट्री भाषा के विकास क्रम के अध्ययन का प्रश्न है, महाराष्ट्री प्राकृत में जन साहित्य विपुल परिमाण में पाया जाने क कारण बहुत भी उपयोगी

सूचनाएं इन ग्रन्थों से मिल सकती है। पर खेद का विषय है कि महाराष्ट्री विद्वानों ने अभी तक इस ओर यथोचित ध्यान नही दिया है। प्राकृत के पश्चात अपभ्रंश भाषाएं लोक सभा के पद आरूढ़ हुई। अपभ्रंश भाषाओं का अधिकांश साहित्य भी जन विद्वानों की ही देन है। इन ग्रन्थों का भी भली भांति उपयोग होना चाहिए। कुवलयमाला में महाराष्ट्री की विशेषता इस प्रकार व्यक्त की है—

'दिण्णल्ले गहिल्ले वल्लविटे तत्थ मरहट्ठे।
पिम्र-महिला समामे सुन्दर गत्तोय भोइए रोद्दे॥"

संस्कृत छाया—

'दिण्णल्ले गहिल्ले वल्लपतस्तत्र महाराष्ट्रीयान्।
प्रियमहिलासग्रामान् सुन्दरगात्रांश्च भोगिनो रौद्रान्॥"

जसा कि श्रीयुत प्रभाकरजी माचवे ने 'कल्पना' के प्रथमांक मे प्रकाशित अपने लेख में लिखा है प्रत्येक भाषा का अपना वशिष्टय होता है, उसकी अपनी सांस्कृतिक परम्परा होती है। परन्तु जहां तक भारत की प्रान्तीय भाषाओं का सम्बन्ध है, उन सब में अपनी अपनी विशेषता होने पर भी सब में एक सूत्रता और सामान्यता भी है।' वास्तव में आपके ये शब्द बहुत ही तथ्यपूर्ण हैं। वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं का विकास अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है इसलिये छंद, शैली, शब्दावली आदि की दृष्टि स ही नहीं, ग्रन्थों के नामकरण में भी प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य अपभ्रंश भाषाओं का बहुत ऋणी है। इधर दो तीन वर्षो स राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी, बगला आदि के प्राचीन ग्रन्थों के नामों पर विचार करने की ओर ध्यान गया तो यह बात और भी स्पष्ट हो गई। अपभ्रंश काल मे समान प्रकार के ग्रन्थों के नाम रखने की यह प्रथा चल पडी थी कि सब नामों के अन्त में एक ही पद (यथा रासो मगल आदि) जोड़ा जाता था। इस प्रकार के 'नामान्त पदों में से एक का प्रचार एक प्रदेश में हुआ तो दूसरे का दूसरे प्रदेश में। राजस्थान एव गुजरात की सीमा मिली होने से प्राचीन राजस्थानी एव प्राचीन गुजराती एक ही भाषा के दो नाम समझिए। १५वीं शती से इनका पारस्परिक भेद कुछ स्पष्ट होन लगा था। इससे पूर्ववर्ती दोनों प्रान्तों की लोक भाषा की रचनाओं में विशेष भेद नहीं है। अत नामान्त पदों की भी एकता स्वाभाविक ही है। फागु विवाहला, रास, चोपाई बेलि, सधि, सलोका, धमाल, धवल, बावनी सज्झ

रचनाए दोनों भाषाओ में पाई जाती हैं। हिन्दी भाषा म राम की सज्ञा रासो के रूप में प्रसिद्ध है। वसे हिन्दी में मैनासत हरिचन्द सत आदि सत नामान्त वाली रचनाओं की परम्परा भी अपभ्रश साहित्य से ही आई है। बगाल में मगल नामान्त वाले बहुत से काव्य मिलते हैं तो हिन्दी एव राजस्थानी में भी रुक्मणी मगल सज्ञक काव्य उपलब्ध है। इसी प्रकार महाराष्ट्री साहित्य में शिवाजी महाराज के समय पवाडा नामान्त वाली रचनाओं का प्रचुरता से निर्माण हुआ। मामवेजी के उपयुक्त लेख मे इनके सम्बध में यह कहा गया है—

'वामन पडित और मोरोपत जसे पडित कवियों के बाद मध्ययुगीन मराठी साहित्य की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता है "पोवाडो' नामक वीर काव्य। इसमें युद्ध या अन्य प्रसग-विशेष के वर्णन, वीरों की जीवनिया और ऐसे ही ओजस्वी विषय रहते हैं। "शाहिरों' का एक पूरा फड (दल) इसे गाता है और लबी कविता होने से उसम प्रसंगानुसार गद्य भी आ जाता है। ऐसे प्राय ३०० ऐतिहासिक पोवाडे मिलते हैं। अज्ञानदास का 'अफजल खा-वध' और तुलसीदास का तानाजी मालसुरे य दो छत्रपति शिवाजी काल के पोवाडे बहुत विख्यात हैं। सन् ४२ म ऐसे ही जनकाव्य इसी शली में लिखे गये।'

'जनवाणी' के गत जनवरी के अक म प्रकाशित प्रो० महादेव सीताराम दूसरकर के "प्राचीन मराठी साहित्य' शीर्षक लेख में भी उपयुक्त आशय का ही वक्तव्य है। आपने लिखा है— सबसे पुराना पवाडा अगिनदास का मिलता है जो अफजल खान के वध पर लिखा गया है। पवाडों की उत्पत्ति धर्म मूलक है। प्रथम साधु सन्तों के चरित्रों पर बाद मे जब मराठे राजनीति मे अग्रसर होने लगे तब वीर मराठो के पराक्रम और बहादुरी पर गीत (पवाडे) गाये जाने लगे। मराठा के सामान्य विस्तार के साथ पवाडों का क्षेत्र भी व्यापक होता गया। अगिनदास अपने ऊपर निर्दिष्ट अफजलखा के पवाडे में कहते हैं—

'यह सूरवीर पुरुषों का पवाडा सूरवीर ही सुनें।'

गयाप्रसाद एण्ड सन्स आगरा से प्रकाशित तथा नारायण वासुदेव गाडवाले द्वारा लिखित "मराठी साहित्य का इतिहास" हाल ही में मुद्रित हुआ है। उसमें पृ ७० से ८७ में पवाडों के सम्बन्ध में कुछ विशेष वर्णन पाया जाता है। पर उसका सार यही

है कि मराठी भाषा में पवाडे शिवाजी महाराज के समय से पहले प्राप्त नहीं है। श्री शिवाजी कालीन पवाडे भी ७८ ही उपलब्ध हैं। ये १९वीं शती में अधिक रचे गये। पवाडे वीर गीत के रूप में होने से महाराष्ट्री शब्द कोशादि में पवाडे का प्रयोग, अर्थ ही 'वीराच्या पराक्रमाचे विद्वानाच्या आढिमत्तेच, तसच एखाद्याचे सामर्थ्य गुण कौशल, इ काचे काव्यात्मक वर्णन, प्रशस्ति, स्तुति स्तोत्र पराक्रम कीर्ति' दिया जाता है। अर्थात् वीरों के पराक्रम का वर्णन करने वाले काव्य के अर्थ में पवाडा शब्द रूढ हो गया है।

यहां तक मराठी साहित्य मे पवाडों की प्रचुरता, लोक प्रियता एवं प्राचीनता तथा शब्दार्थ पर विद्वानो के मत दिये गये। अब गुजराती एवं राजस्थानी साहित्य में पवाडा शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है इस पर विचार किया जायगा।

स० १४५३ के चैत्र सुदी १० को जाखो मणिहार रचित हरिश्चंद पुराण कथा के प्रारम्भ में दो बार 'पवडो' शब्द व्यवहृत पाया जाता है—

बुद्धि बुद्धि मति दकर करउ पसाउ
ज्यू पुरि पवडो हरिचन्द्र राउ।

तथा— कह कवित मत लावो वार,
सत हरिचद पवडो ससार।

जहाँ तक पवाडा संज्ञक रचनाओं की प्राचीनता का सम्बन्ध है— सर्व प्रथम जैनाचार्य हीरानन्द सूरि के स० १४८५ में रचित विद्याविलास चरित में उसे पवाडो की संज्ञा दी गई है।

विद्याविलास नरिंद पवाडो, हइडा भीतर जाणी।
अतराइ विण पुण्य करो तुम्हि, भाव घणेरो आणी॥

यहाँ पवाडो शब्द चरित काव्य के अर्थ में प्रयुक्त है। विद्याविलास की कथा वीर रसात्मक नहीं है अपितु इस वचन के अनुसार प्रेम और कौतुक रस प्रधान है। अतः उस समय तक 'पवाडो' शब्द वीर गीत के अर्थ में रूढ नहीं हुआ था, यह स्पष्ट है।

इसके परवर्ती उपलब्ध पवाडा जैन कवि ज्ञानचन्द द्वारा रचित बंकचूल पवाडो है, जिसकी रचना स० १५६५ में मांगरोल काठियावाड में हुई।

स० १५६३ में वीठू सूजा की रचना रावजतसीरो छन्द" वास्तवमें पवाडा ही है। उसके पद्यांक तीन और चारसो एक मे 'प्रवाडा', "प्रवाडो" शब्द प्रयुक्त है।

(१) सोहिया प्रवाडा सिन्धु सीस।
जम्बुग्रह दीप जग्गी जगीस ॥३॥
(२) काबिली पट्ट वहवट्ट किय बीकाहर राइ बघरू
जइतसी प्रवाडउ किय जमा जाम

१७ वी शताब्दी के पद्मा तेली रचित रुक्मिणी व्यावलो की स० १६६६ की लिखी प्रति हमारे स ग्रह मे है — उसके पद्यांक २३ व २४ मे पवाडा और "पुवाडइ" शब्द का प्रयोग हुआ है—

'इणि अवतार पवाडा कीधा तेता सहूई जांणु।
जुग अंतर आग अवतरीया, तेहनउ पार न जांण ॥२३॥
प्रथम पुवाडइ पूतना सोखी ? र दलीयो मु साल।
अहरि नई ?ागई दावानल दाणव नइ कुलि कालि ॥२४॥

पाबू जी के पावडे की भांति निहालदे सुल्तान का विस्तृत पवाडा लोक काव्य स ग्रहीत किया जा चुका है, जिसका कुछ अ श मरु–भारती में प्रकाशित हो चुका है।

'सत' संज्ञक रचनाएं

विश्व में प्रकृति और प्राणियों की निर्मित वस्तुओं की संख्या अनन्त है। व्यवहारिक सुविधा के लिए उन वस्तुओं का पृथक करण भिन्न भिन्न नामों द्वारा किया जाता है। इस तरह नामों की संख्या भी असंख्य हो जाती है। साहित्य की रचनाओं में भी शैलियों व विषय आदि की विभिन्नता के कारण उसके अनेक प्रकार हो जाते है। उनकी पृथक पृथक संज्ञाए देना आवश्यक हो जाता है। उनमें से बहुत से नाम तो परम्परागत (सैकड़ों वर्षों तक रचयिताओं द्वारा) समादृत पाये जाते हैं तो कुछ नये नामों की भी सृष्टि होती रहती है और पुरानी संज्ञाए भुला दी जाती हैं। हमारी प्रान्तीय लोक भाषाओं में रचित रचनाओं की संज्ञाए भी सैकड़ों की संख्या में हैं जिनमें से कुछ संज्ञाए प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि की प्राचीन रचनाओं के अनुकरण में रची गई हैं और कुछ लोक साहित्य से ले ली गयी हैं, नागरी प्रचारिणी पत्रिका के गत वर्ष ५८ अंक ४ में प्रकाशित "प्राचीन भाषा काव्यों की विविध संज्ञाए" शीर्षक अपने निबन्ध में जैन कवियों द्वारा रचित राजस्थानी और गुजराती भाषा की प्राचीन काव्य रचनाओं की ११५ संज्ञाओं का उल्लेख करते हुए करीब ८० रचनाओं के सम्बन्ध में संक्षेप में प्रकाश डाला गया है, इन संज्ञाओं के अतिरिक्त और भी अधिक संज्ञाओं वाली रचनाएँ मिलती हैं जो राजस्थानी और गुजराती भाषा के काव्य के नामान्त पद के रूप में विशेष प्रयुक्त न होकर हिन्दी भाषा के काव्यों के नामान्त पद के रूप में विशेष व्यवहृत हुई हैं। 'सत' संज्ञा भी ऐसी ही है। इस नामान्त वाली प्राप्त रचनाओं का परिचय कराना ही प्रस्तुत लेख का विषय है।

बारहमासा, रास 'चरचरी मातृका' ककहा (अक्षरावट) आदि संज्ञाए जिस प्रकार अपभ्रंश काल से हिन्दी राजस्थानी गुजराती में परपरांगत चलती आ रही हैं 'सत संज्ञक' रचनाओं का स्रोत अपभ्रंश काल से ही चलता आया है। अतः सर्वप्रथम इस संज्ञावाली अपभ्रंश रचना का परिचय देकर फिर हिन्दी काव्यों में इसकी जो परंपरा रही है इसे बतलाया जावेगा।

पाटण के संघवी पाडे के जैन ज्ञान भंडार में ताडपत्रीय संग्रह प्रतियां हैं। इन में सं० नं० ५६ में सतरहवीं रचना सीतासत नामक है। जिसका विवरण गायकवाड

ओरीऐंटल सिरीज से प्रकाशित पत्तनस्थप्राच्य जन भंडागारीय ग्रंथ सूची भाग १ के पृष्ठ ४५ में इस प्रकार मिलता है (१७) सीतासत अपभ्रंश पत्रांक ८७ से ८६ गाथा २०
प्रारंभ — पूरवि दसरथु जतिम ग्र वध मागति ।

र"ज भरह निपावियम्र राव म) लखरण सजन ।।

अंत — थाणि लागो मनाविय ग्रे स्वामि महु एक अधराहु ।

र (।) मु राहक ए भलाए, लइले सजम भाउ ।

"वि दुहुहि वाजियए, चलिय स सीतासत ।।२०।।

प्रस्तुत प्रति सीतासत रचना तरहवी चौदहवी शताब्दी की प्रतीत होती है इस लिए सत' मज्ञक रचनाओ की परम्परा करीब सात सौ आठ सौ वर्ष जितनी प्राचीन सिद्ध होती है। इस रचना म सीता क सत सत्व तीन गुण की चर्चा होने से इस रचना का नामान्त पर सत रखा गया है। परवर्ती रचनाओं में भी इसी ग्रंथ से यह सज्ञा और जैन जनेतर हिन्दू मुसलमान सभी कवियो न अपनायी है जिसका पता आगे दिये जाने वाले काव्यो के विवरण द्वारा पाठको को भली भांति मिल जाएगा।

सीता सत क परवर्ती हिन्दी साहित्य की 'सत मज्ञक रचनाओं म सबसे पहली रचना कवि साधर रचित मनासत है इसमें मना नामक एक सती स्त्री न अनेक प्रलोभनो से बचकर किस प्रकार अपने शील की रक्षा की उसका विवरण दिया गया है। इस रचना की तीन हस्तलिखित प्रतियों की चर्चा डा० माता प्रसाद गुप्त ने अवन्तिका के गत जुलाई अक म की है। सब प्रथम इस रचना का पता (१) जोधपुर के राजकीय लाइब्रेरी की प्रति सन् १६०२ की खोज रिपोर्ट प्रकाशित विवरण म हिन्दी जगत को मिला। (२) चतुरभुज दास के मधुमालती के सस्करण म मना सत' की कथा एक साक्षी कथा क रूप में पाई जाती है और अभी अभी प्रो० एस एस० अस्करी ने एक (३) प्राचीन प्रति का विवरण बिहार रिसर्च सोसायटी के जनल के मार्च जून क अक म प्रकाशित किया है। इन तीनों पाठ समस्याओ पर डा० माता प्रसाद गुप्त ने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि एक दो प्रति के आधार स भाषा के सम्बन्ध मे निर्णय करना ठीक न होगा। अत इस ग्रन्थ की अन्य तीन प्रतियो की जानकारी यहा दे देना आवश्यक समझता हू। नवीन जानकारी के रूप म प्राप्त प्रतियों म स प्रथम प्रति का विवरण अब से सात वर्ष पूर्व मैंने अपने 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथो की खोज क द्वितीय भाग के पृष्ठ ८१ म प्रकाशित किया था पर वह डा० गुप्त जी के अवलोकन म आया न ही प्रतीत होता

मेरा लिया गया विवरण इस प्रकार है —

(११) मना का सत —

प्रथमहिं विनउ सिरजन हारा, अलख अगोचर मया भंडार।

आस तरि मोहि बहुत गुसाई, तोरे उर कापो वरद की नाओं।

शत्रु मित्र सब काहु सवारै, भुगत देहि काहु न विसार।

फूलिज रही जगत फुलवारी, जो रात सो चला सभारी।

अपन रंग आप रंगराता, बूझे कौन तुम्हारी बाता। /

दोहा — ब धन आखिर मारियों, अको चरित न सूझि।

सोवत सपनों देखियां, काम्रु कर कछु बूझि॥

सत— मना मालिन लिया बुलाइ, धरि भाटा कुटनी निहुराओ

मुड मुडाओ कस दुरदीन, कारे पीरे मुख टोका लीन॥

गदह पलानी क आन चढाओ हाट हाट सब नगरी फिराओ।

जो जसा कर सु तसा पावे, अिन नातन का अनख न आवे।

अगे दिश्र जा जो रहवाना कादो बाप कि लुनिय धाना॥

दोहा — सतु मना का साधिन, थिर राखा करतार।

कुटनी दस निकारी, कौनी गगा क पार॥

इति मना का सत समाप्त लेखन काल १८ वी शताब्दी।

प्रति गुटकाकार पत्र ५०॥ स ६७ पत्ति १३। अक्षर १३। (अभय जन ग्रथालय नि० गुटका)

विशेष — मालिन न मना का सत (शाल) च्युत करने का प्रयत्न किया पर वह अटल रही बीच म १२ मास का वणन है।

दूसरी और तीसरी दो प्रतियाँ अनूप सस्कृत लाइब्रेरी बीकानर म है जिनका जिनका विवरण इस प्रकार है —

गुटका न० ७९ (घ) मना सत रचयिता मिया साधन पत्र १० स १७ तक लिखित —

यह प्रति स० १७२४ स ७७ तक की लिखित है। इसका विवरण राजस्थानी ग्रथो क अन्तगत राजस्थानी ग्रथ सूची म छपा है। इस प्रति का न० ११७ है। प्रति अभी मर सामन नही है पर इसक विवरण म मालूम होता है कि इसका पाठ अशुद्ध सा है।

प्रति के विशेष विवरण मे लिखा गया है पुस्तक जीर्ण अवस्था में है बहुत से पत्र खडित है, आदि और अ त अप्राप्त है, लिपि सुवाच्य नही है।

इस प्रति के पत्र ५६ से ७१ म मैंना सत लिखा हुआ है। विवरण में प्रति के अनुप पाठ के अनुसार जिस 'मिना सतमी' रचयिता 'आस थान' लिखा है।

खोज करने पर एक दो प्रतिया और भी मिल सकती है। प्राप्त प्रतियो के आधार स इस छोटे से ग्रथ का सुसपादित सस्करण शीघ्र ही प्रकाशित होना आवश्यक है। ग्रथ के मगलाचरण और अनूप सस्कृत लाइब्रेरी के सूचीपत्र में 'कर्ता मिया साधन" नाम छपा है इससे इसका रचयिता मुसलमान कवि है। डा मसकरी को प्राप्त प्रति से भी इसकी पुष्टि होती है व साथ ही यह रचना १६ वीं शता दी की ज्ञात होती है। अवधी भाषा की एक प्राचीन रचना होने के नाते भी यह शीघ्र प्रकाशन योग्य है।

सत सज्ञक तीसरी रचना – सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यानी कविवर "जान' रचित 'सतवती सत' है। जिसका सवप्रथम विवरण सु दर ग्र थावली, हमारे संपादित राजस्थानी भाग ३ अक ४ के पृष्ठ १६ म सन् १६४० म प्रकाशित हुआ था। जिसकी अनूप सस्कृत लाइब्रेरी मे हस्तलिखित प्रतिया मिलती हैं। स० १६७८ म इसकी रचना हुई। इसकी कथा इस प्रकार है।

मनसूर एक व्यापारी है। इसकी स्त्री का नाम सतवती है। वह रूपवती और पतिव्रता है। मनसूर अपने मित्रो के साथ व्यापार के लिए विदेश जाता है। उसकी स्त्री विरह म दु खी होती है। कुछ दिन बीतने पर एक धूत ने उसके सौ दय की प्रशसा सुन कर उसे अपने वश में करना चाहा, उसने आकर्षित करन के लिए एक दूती को (सतवती के यहा) भेजा पर वह हार व मार खाकर लौटी। सतवन्ती अपन शील मे अविचल रही। धूत लम्पट किसी मत्रवादी की सेवा कर उससे रूप परिवर्तिनी विद्या सीख लेता है और मनसूर का रूप बनाकर सतवन्ती क यहा आता है। सतवन्ती को सन्देह होता है इसलिए कुछ दिन तक वह उसे टालती रहती है। इतने म ही इसका वास्तविक पति मनसूर आ जाता है। दोनों एक दूसरे को नकली बताते हैं। समान रूप वाले होने स लोग निर्णय नही कर पाते, याय के लिए वे राजसभा म राजा के पास पहुँचते हैं। राजा उन दोनो से और सतवन्ती से इनके विवाह की तिथि लिखवा लेता है। सतवन्ती और मनसूर की तिथि एक मिलने पर धूत लम्पट को प्राणदण्ड मिलता है।

हिन्दुस्तानी (राजस्थान म हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज भाग ३) भाग १५

अक १ मे कवि जान की रचनाओं का विवरण प्रकाशित हुआ है। उसक अनुसार इस कथा का विस्तार ५२ दोहे और चोपाई हैं। कवि जान ने इसी तरह की अन्य तीन सती स्त्रियो के सतीत्व रक्षा के वणन वाली रचनाए शीलवन्ती, कुलवन्ती और तमीम अंसारी क्रमश सवत् १६८४, १६६३ और १७०२ म बनाई हैं। जिम प्रति म यह रचनाए प्राप्त हुई है उसमें इसका नामान्त 'सत' नही लिखा गया प्रतीत होता है पर रचनाओं के विषय और शली को देखत हुए इनकी गणना भी सत सज्ञक काव्यों में ही होनी चाहिए। इन रचनाओं की अन्य प्रतिया प्राप्त होने पर स भव है यह स ज्ञा लिखी हुई भी मिले।

४थी और ५वी ''सत स ज्ञक रचना' — जन कवि भगवतीदास रचित 'वृहद सीता सतु" और ''लघु सीता सतु' है, दोनो महासती सीता क सत्य का विवरण देने वाली हैं। पहली रचना स० १६८४ मे रची गयी। उसी को स क्षिप्त करके स वत् १६८४ क चैत्र शुक्ला ४ सोमवार के दिन भरणी नक्षत्र मे सीहरदि शाहादरा दिल्ली नगर मे बनाई गई। इस ग्रन्थ में बारहमासा के मदोदरी सीता प्रश्नोत्तर रूप मे कवि ने रावण और मदोदरी का चित्रण किया है। रचना सरल, हृदयग्राही व रुचिकर है। इसका विवरण 'अनेकान्त' वष ५ किरण १ २ के पृष्ठ १५ मे प्रकाशित है। पचायती मन्दिर दिल्ली के सरस्वती भडार के गुटके म यह लिखित रूप मे मिली है।

उपयुक्त दोनों सीता सत के रचयिता कवि भगवतीदास बूढिया (जिला अम्बाला) के निवासी थे। ये अग्रवाल कुल क वसल गोत्रीय थे। दिल्ली क भट्टारक महेन्द्रसेन के शिष्य थे। य बूढिया से दिल्ली आकर रहने लगे थे। कुछ समय हिसार म भी रहे थे। इनक रचित ''अनेकार्थ नाम माला'' (स० १६८७ दहली में रचित) और 'मृगाक लेखा चरित्र' प्राप्त हैं। अन्तिम ग्रन्थ की रचना स० १७०० म हिसार में हुई है। विशेष जानकारी के लिये अनेकान्त वष ५ अक १ २ और व ७ किरण ६ देखना चाहिए।

सत स ज्ञक छठी रचना 'हरिचन्द सत' है। जो ध्यानद स द्वारा स वत् १८०० के लगभग मे रची गई है। इसका विवरण राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के तृतीय भाग क पृष्ठ २१६ में इस प्रकार मिलता है —

(७८) हरिचन्द सत रचयिता ध्यानदास। यह तीन अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय म ११६ पद्य हैं। द्वितीय म १२१ और तृतीय मे १००। दोहे १४, सोरठे २, छद ४ और चोपाईया ३२० हैं। कुल पद्य स ख्या ३४० होती है। ग्रन्थ का विषय सत्य हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा है। इसका रचनाकाल कवि ने इस प्रकार दिया है 'उदधि

दोत कर लीजिये लेखन भार अठार" इसके अनुसार स० १८२४ या १८४२ रचनाकाल ठहरता है। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे राजा का राज्यत्याग और कानी मे आगमन, द्वितीय अध्याय मे पुत्र रानी व राजा का वियोग पुत्र और रानी का अग्नि शर्मा के यहा और राजा का डोम यहा निवास। तृतीय अध्याय म रोहित का मृत्यु और शेष घटनाए हैं।

सत्य हरिश्च द्र के सत्य के महात्म्य को प्रगट करने वाला होने स ही इसका नाम हरिच द चरित ग्रथकार ने रखा है। कई प्रतियो मे उसका नाम हरिच द सत लिखा मिलता ह। इसी प्रकार सतवन्ती सत की कई प्रतियो म सतवन्ती की वार्ता भी लिखा मिला है। पर वास्तव म ये सब परम्पराए एक ही परम्परा एव विषय की हैं इसलिए इनका नामान्त पद सत' ही उचित है व सही है।

इस प्रकार 'सत' स ज्ञक रचनाओं की परम्परा करीब ५०० वर्षो स चलती प्रतीत होती है।

सत स ज्ञा शब्द का व्यवहार अनेक जगह शत् अर्थात शतक सौ पद्योवाली रचना के सूचक अर्थ मे भी पाया जाता है। वृ दावन सत् शृ गार सत, विरह सत आदि ऐसी ही रचनाएँ है।

राजस्थानी साहित्य के संवाद ग्रन्थ

बौद्धिक विचार और तत्व निर्णय के अनेक साधनों में वाद विवाद का भी बड़ा प्रमुख स्थान है। "वादे-वादेजायते तत्वबोध" (वाद विवाद करने से वास्तविक तत्व हाथ लगता है) किन्तु यह वाद-विवाद जब कुछ जानने की इच्छा से किया जाता है तब तो वह उपयोगी होता है। किन्तु जब केवल अपनी विद्वता का प्रदर्शन करने अथवा दूसरों को नीचा दिखाने के लिये वाद विवाद किया जाता है, तब वह वितण्डावाद का रूप धारण कर लेता है। उससे किसी तत्व का निर्णय नहीं हो पाता। वह केवल वाग्जाल भर बनकर रह जाता है।

जिज्ञासा उत्पन्न होने पर उसका समाधान करने के लिये उसके विशेषण से उसका उत्तर प्राप्त करने के लिये प्रश्नोत्तर की शैली के संवाद, वैदिक युग से लेकर समस्त प्राचीन साहित्य में निरंतर प्राप्त होते हैं। बौद्ध और जैन साहित्य में धर्म तत्वों का निरूपण इसी प्रश्नोत्तरी शैली में किया गया है। किन्तु मध्यकाल में कवियों ने विनोद के रूप में कुछ वस्तुओं और अवस्थाओं को व्यक्तिगत मानकर उनसे संवाद कराये हैं।

बहुत से लेखकों ने ऐसी विरोधी वस्तुओं का परस्पर संवाद कराया है। जिनमें से एक ने अपने गुणों का उत्कर्ष और दूसरे ने उसका खंडन करके अपना महत्व स्थापित करने के सम्बन्ध में तर्क दिये हैं। इस प्रकार के संवाद मूलतः हमें दार्शनिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं किन्तु मध्यकाल के लेखकों ने केवल अपने बौद्धिक चमत्कार से कुछ वस्तुओं को वादी प्रतिवादी का रूप देकर प्रत्येक वस्तु के महत्व, दूसरे की दृष्टि में उसके दोष और कहनेवाले की विशेषता का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। ऐसी रचनायें अधिकांश जैन विद्वानों की हैं। समन्वयवादी होने के कारण इन जैन विद्वानों ने अन्त में इन कल्पित पात्रों का परस्पर मेल करा दिया है। ये रचनायें छोटी होने पर भी काव्य चमत्कार की दृष्टि से अत्यन्त ललित हैं और कवि की सजीवनी प्रतिभा के अद्भुत उदाहरण हैं।

यद्यपि इनकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों में प्रसंगत इस प्रकार के संवाद आये हैं। तथापि ऐसी रचनायें सोलहवीं शताब्दी से ही

संस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं में प्रचुर प्रमाण में प्राप्त होने लगी हैं। स्वतन्त्र रचनाओं में विशेषतः लोक भाषा में प्रचलित एक कृपण नारी संवाद हमें संवत् १६३७ का लिखा हुआ प्राप्त हुआ है, जो अभी तक प्राप्त और ज्ञात संवाद रचनाओं में सबसे प्राचीन कही जा सकती है। किन्तु वास्तव में इस प्रकार की रचनाओं का विकास सोलहवी शताब्दी से ही हुआ है। यद्यपि बहुतसा पूर्ववर्ती रचनाओं में ऐसे संवाद बीच बीच में ग्रथित किये मिलते हैं। जैसे 'राजस्थान रिसर्च सोसाइटी' कलकत्ता के राजस्थानी नामक पत्र के (भाग ३ अंक १) में "भाषाओं के चार प्राचीन उदाहरण' शीर्षक से हमने चौदहवी शताब्दी की एक रचना प्रकाशित की है जिसमें गूजरी, मालवी पूर्विनी और मराठी चार स्त्रियां अपनी अपनी बोलियों में बात चीत या संवाद करती हैं। इस संवाद में सबने अपने अपने देश की विशेषता और महत्ता का प्रतिपादन किया है। यह संवाद कवि ने शत्रुंजय जैन तीर्थ पर यात्रा के लिये आई हुई श्राविकाओं से कराया है। इस परम्परा का प्रभाव परवर्ती जैन रचनाओं पर भी पडा है। मरु-भारती (वर्ष २ अंक ३) में देपाल कवि रचित जीरापल्ली पार्श्वनाथ रास हमने प्रकाशित कराया है। जिसमें जीरापल्ली तीर्थ पर उपस्थित मालव मारवाड, सिंध, सोरठ तथा गुजरात इन पांच देशों की स्त्रियां अपने अपने देश की विशेषताओं का वर्णन करती है। अन्त में नागौर की एक श्राविका आकर इन सबका विवाद समाप्त करके प्रभु पूजा में सम्मलित कर लेती है। पन्द्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा की यह अत्यन्त सुन्दर रचना है।

सोलहवी शताब्दी से जो स्वतन्त्र सम्वाद रचनायें प्राप्त होने लगती हैं उनमें तीन चार कवियों की रचनायें अत्यन्त रोचक हैं। जिनमें से विक्रमपंचदंडकथा और नन्दबत्तीसी आदि के रचयिता कवि नरपति का जिह्वादांत संवाद और सुखड चंपक संवाद स्वर्गीय मोहनलाल दलीचंद देसाई के संग्रह में है। इनमें से दंतजिह्वा संवाद को डाक्टर भोगीलाल साडेसरा ने सम्वत् १९४७ के गुजराती के दीपोत्सवी अंकों में प्रकाशित किया था। यह संवाद दश पद्यों में है जिसमें से पांच में तो दांत और जीभ ने अपनी महत्ता सिद्ध की है और आठवें में दांत ने जिह्वा संवाद विवाद शांत करने को कहकर दोनों का परस्पर मेल करा दिया है।

इसमें परवर्ती रचनाओं में कवि सहज सुंदर का (१५७२ १५९५) आंख कान संवाद और यौवन जरा संवाद है, जिसमें २५ छप्पय हैं। दूसरी रचना आंख कान संवाद ९ त्रोटक छन्दों में है। कथा यों है कि शत्रुंजय में प्रभु का दर्शन करते समय कान

और आख दोनों अपना अपना महत्व प्रदर्शित करते हैं, किन्तु अन्त में दोनों परस्पर मेल कर लेते हैं। क्योंकि आख के द्वारा प्रभु का दर्शन होता है, और कान से प्रभु की भक्ति के गीत सुने जाते हैं।

इस शताब्दी के प्रसिद्ध कवि लावण्यमय की तीन सवाद रचनायें मिलती हैं (१) रावण मदोदरी सवाद (स० १५६२) में ६३ पद्य है। (२) कर सवाद (स० १५७५) शांति नगर में ६६ पद्यो में रचा गया (३) गोरी सावली गीत सवाद ६३ पद्यों में लिखा गया है इसमे से पहिले में सीता हरण के पश्चात रावण को मन्दोदरी समझाती है और उनका सवाद चलता है। इसी नाम का श्रीधर का रचा हुआ एक स वाद भी प्रकाशित हो चुका है जिसकी प्रत्येक पक्ति में एक एक कहावत गु थी गई है। यह रचना स० १५६५ में जूनागढ़ (जीणदुग) में हुई। यह कवि मोढ मडालजा जाति के मंत्री मडसा के पुत्र थे। फार्बस गुजराती सभा बम्बई ने मांडन रचित प्रबोध बत्तीसी के साथ विस्तृत टिप्पणियां सहित यह सम्वाद प्रकाशित किया है।

लावण्यसमय की दूसरी रचना कर सवाद में प्रसग यह है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को बारह महीने से अधिक समय तक आहार नहीं मिला। बैसाख बदी ३ (अक्षय तृतीया) को उन्होंने वार्षिक तप का पारणा करने के लिये दोनों हाथों की अजला में इक्षुरस ग्रहण किया। इसी के आधार पर कवियों ने कल्पना से दायें और बायें हाथ में परस्पर सुन्दर स वाद उपस्थित किया है। दाहिना हाथ अपनी विशेषता का बखान करते हुए बायें हाथ से भिक्षा मांगने के लिये कहता है तब बाया हाथ अपनी विशेषताओं का वर्णन करके दाहिना हाथ को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। अन्त में भ० ऋषभदेव के मुख से कहलाया गया है कि सभी का अपना अपना महत्व है, अत: दोनों के मिलने से काम सिद्धि हो सकती है। यह सुनकर दोनों हाथ अपना विवाद समाप्त करके ऋषभदेव श्रेयांसकुमार का बहराया हुआ इक्षुरस दोनों हाथों की अंजलि में ग्रहण करके पारण करते हैं। अठारहवीं शताब्दी के कवि धर्मसोम ने यह स वाद विस्तृत रूप से रचा जिसका परिचय आगे दिया जायगा। अठारहवीं शताब्दी के ही सुप्रसिद्ध कवि लक्ष्मीवल्लभ ने अपनी कल्पसूत्र की कल्पद्रुम कलिका नामक टीका में ऋषभ चरित्र के उपप्रस ग में स स्कृत में कर स वाद किया है।

१६ वीं शताब्दी की रत्नमडन द्वारा रचा हुआ एक स वाद सुन्दर नामक स स्कृत स वादें समुच्चय भी रचा गया। जिसमें (१) शारदपद्मयो स वाद (२) गांगेय

निन्दक सरीखो पापियउ भुण्डउ कोइ ने दीठ ।
वसी चण्डाल समउ कह्यो, निन्दक मुख दीठ ॥३॥
आप प्रसशा आपणी, करता इन्द्र नरिन्द्र ।
लघुता पामइ लोक मइ, नासइ निज गुण वृन्द ॥४॥
को कहेनी म करउ तुम्हें निन्दा नइ अहकार ।
आप आपणी ठामइ रहो, सहु को भलउ ससार ॥५॥

कविवर की यह रचना बहुत लोकप्रिय हुई प्रतीत होती है क्योंकि इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियां तो हमारे स ग्रह में तथा अन्यत्र प्राप्त हैं। स० १६६२ सागानेर में १०१ पद्यों में यह स वाद रचा गया। इसकी तत्कालीन प्रसिद्धि का एक विशिष्ट उदाहरण यह भी प्राप्त हुआ है कि स ० १६६६ की माघ सुदी में कृष्णदास ने "दान शील तप भावना का रासा" बनाया। जिसकी प्रति हमारे सग्रह मे है। यह रचना हिन्दी पद्यों म समय सुन्दरजी के उपयु क्त स वाद के अनुकरण पर रची हुई प्रतीत होती है।

इसी शताब्दी में स ० १६८२ या १६८६ में कवि श्रीसार ने फलादी मे "मोती कपासिया स वाद" नामक १०३ श्लोकों का विस्तृत ग्रन्थ बनाया। इसके प्रारम्भ में कवि ने लिखा है कि ऋषभदेव भगवान् शुद्ध आहार की खोज करते हुए हस्तिनापुर में पधारे। उन्हें मोतियों के थाल से पद्मिनी स्त्रियों ने बधाया। उस समय मोती ने अहकार में आकर कहा कि मैं ससार में सबसे बडा हूं, मेरे बराबर कोई नहीं। उसने जब अपनी लबी चौडी प्रशसा की तो कपासिये ने मोती से कहा कि अभिमान न कर मेरा महात्म्य भी सुन। फिर वह अपनी विशेषताओं का वर्णन करता है और दोनो का मेल हो जाता है। यह स वाद ६ ढ़ालों में है इसकी कई प्रतिया हमारे सग्रह मे हैं।

इसके पश्चात् स ० १६६६ किशनगढ में रचित कवि कुशलधीर का 'उद्यम कर्म स वाद' ३८ पद्यों का है। जिसमें उत्तर प्रत्युत्तर के रूप में उद्यम और कर्म ने अपनी अपनी बडाई की है। इसी शताब्दी के स वाद स ज्ञक कुछ अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त हैं। जिसमें राजकवि रचित रावण मन्दोदरी स वाद स्वतन्त्र पद्यों के रूप में है। स० १६८६ में लूणसागर के अजतासुन्दरी स वाद रचे जाने का उल्लेख जनर गुज कवियो भाग १ पृष्ठ ५७४ में है। पर उसकी प्रति मुझे प्राप्त नही है अत उसका विशेष परिचय नहीं दिया जा सकता। "हरिणी स वाद' नामक एक अन्य रचना भी देखने में आई है पर इस समय सामने न होने से उसका भी परिचय नहीं दिया जा रहा है। हमारे स ग्रह में अन्य

कई छोटी छोटी रचनाए हैं जिनमें रचनाकाल का निर्देश नहीं है पर वे सतरहवी शताब्दी की ही प्रतीत होती हैं —

१ १६ पद्यों में मुनिशील द्वारा रचित कस्तूरी कपूर स वाद इसमें कस्तूरी और कपूर ने अपना अपना महत्व प्रकट किया है।

२ १० पद्यों में श्री हप रचित सासू बहू विवाद – जिसमें मासू और बहू का विवाद वर्णित है।

३ ६ पद्यों मे से कवि द्वारा रचित कृपण लक्ष्मी स वाद

४ २५ पद्यों मे दान कवि रचित काव्य जीव प्रेम स वाद जन गुजरकविओ आदि में सुधन हप कवि रचित "मदोदरी रावण स वाद 'पद्य स ख्या ६४, जयवत रचित "लोचनकाजल" स वाद पद्य १६ अजितदेव सूरि रचित "समकितशील स वाद" का भी उल्लेख मिलता है।

१८ वीं शता दी में लक्ष्मीवल्लभ रचित "भरत बाहु बल स वाद, पद्य २६, बाल चन्द्र रचित पचेन्द्रिय चोपाई १७५१ आगरा यशोविजय रचित समुद्र वाहण स वाद 'विनय विजय रचित" पचसमवाय स वाद (स्तवन) उदय विजय रचित समुद्रकलश स वाद १७५४ और अभय सोम रचित कर स वाद स० १७४७ आखातीज इनमें से समुद्र वाहण स वाद, पचसमवाय स वाद स्तवन प्रकाशित हो चुका है। इन दोनो के रचयिता बहुत बडे विद्वान है विषय का निरूपण बहुत सुन्दर हुआ है भाषा गुजराती है कर स वाद की प्रति हमारे स ग्रह में है।

१६ वीं शताब्दी म अमृतविजय रचित "रामराजीमती स वाद चौक" स० १८३६ में रचा गया जिसमे कई सखियों का स वाद बडा सु दर हैं स० १८२७ में विजय लक्ष्मीसूरि ने ज्ञान दर्शन चारित रतन त्रय का स वाद बनाया है, इसी शताब्दी में ऋषि जयमल के शिष्य रूपचन्द ने पचेन्द्रिय की सज्झाय नामक स वादात्मक रचना की थी जिसकी ६ पत्रों की प्रति हमारे स ग्रह में है।

ऊपर जिन स वादों का परिचय दिया गया है वे प्राय सभी जैन विद्वानों की रचनाए हैं जनतर कवियों का भी कुछ ऐसी रचनाए प्राप्त हैं उनका भी यहा निर्देश कर देना आवश्यक है।

१७ वीं शताब्दी में बीकानेर महाराज रायसिंह जी के आश्रित शकर कवि ने "दातार और सुमका स वाद बनाया जिसकी प्रति हमारे स ग्रह में है। मारवणी मालवणी

स वाद नामक एक सु दर रचना जिसमे मरु और मालव सम्ब धी विशेषताओं का वर्णन वहा की स्त्रियों के मुह स करवाया गया है जिस मैं 'राजस्थान भारती' में प्रकाशित कर चुका हू । गुरु चेला स वाद ता राजस्थानी भाषा की बहुत सु दर ज्ञान वद्धन मुक्तक रचना है । एक पद्य म तीन चरण में तीन तीन बातें चेल स पूछी ज ती हैं और चौथ चरण में तीनों का उत्तर चेला गुरु को दे दता है । ऐसे प्र त पद्यो का स ग्रह भी राजस्थान भारती' म प्रकाशित कर दिया है । कुछ अ य सम्वाद —उ दर मिनकी सम्वाद'' 'सोना गु जा सम्वाद'' आदि भी मिलत है जिनमे सोना गु जा स वाद तो गद्य म लिखा हुआ प्राप्त है ।

हि दी म भी कवि नागरीदास के कई वाद-तल तवोलका वादु वादु मगनदानिका ननकानका लोहे सोन का, लज्जा मुख का आदि अकबर दरबार के हि दी कवि मे छप चुके हैं । अ य ज्ञात हि दी वादो का परिचय निम्नोलिखित है —

हि दी सवाद ग्र थ

१ केसि गोतम सवाद			दिगम्बर १* पंथी वडा भडार
२ मन ज्ञान स ग्राम ६४ पद्य			
३ भरत वाहुबलि सम्वाद (अपभ्र श)			,
४ ज्ञाता कामिका विवाद			
५ सुमति कुमति का झगडा			,,
६ मन ज्ञान स ग्राम सवाराम			लूणकर पाडया भडार
७ आम ीव का भगडा			
८ जीव कम स वाद			,
९ मन ज्ञान का स वाद लालच द			,
१० वादु लोहे सोने का (१३ म०) नरहरिदास १७ वीं शताब्दी			
११ नन कान का वाद (६ पद्य)	,		अकबरी दरबार के हि दी
१२ तल तबोल का वादु (८ पद्य)	,,		कवि म प्रकाशित
१३ मगन दानि का वादु (१० पद्य)	,,		,
१४ लज्जा और मूख का वादु (१० प०)	,,		
१५ तीस चरण म वाद पद्य ३२ प्राणनाथ	,,		,
१६ रितु सभाव स वाद ४० पद्य कलपति मिश्र			

१७ सुरूप कुरूप स वाद कुलपति मिश्र
१८ विष पियूष स वाद " अनूप स स्कृत लाइब्रेरी
१९ रूप गुण स वाद ६४ पद्य ,
२० श्यामा हिरदे स वादो ना० प्र० सभा
२१ स्वण मुक्ता स वाद "
२२ बादु गोरी सावली चतुरभुज दमोधी
२३ सोने लोहे का झगड़ा "

अन्य उपलब्ध जैन सवाद ग्रन्थ

१ अजना सुदरी सवाद	१६८९	लूण सागर	
२ आखि कान स वाद		सहज सुदर	अभय जन ग्रन्थालय
३ उद्यम कम स वाद	१६६८	कुशलधीर	
४ कर स वाद	१५७५	लावण्यसमय	
५ कर स वाद	१७४७	अभयसोम	अभय जन ग्रथालय
६ कस्तूरी-कपूर स वाद		मुनिशील	
७ काया जीव स वाद गा २५		दाम	
८ कृपण-नारी स वाद गा ८ १५ वी शताब्दी			
९ गोरी सांवली गात ६३		लावण समय	
१० जीभ-दांत गा ४१	१६४३	हीरकलश	
११ दानादि सवाद	१६६२	समयसुदर	
१२ नेमिराजमती सवाद	१८३९	अमृत विजय	
१३ पच समवाय सवाद		विनय विजय	
१४ पचेद्रिय सवाद	१७५१	बालचन्द्र	
१५ पचेद्रिय सवाद		रूपचन्द्र	
१६ मोना-वपासिया सवाद	१३२६	हीरकलश	
१७ मोती वपासिया स वाद	१६८९	श्री सार	
१८ यौवन जरा स वाद		सहजसुदर	
१९ रावण मदोदरी स वाद	१५६२	लावण्य समय	
२० " "		राजकवि	

२१	रावण मदोदरी सवाद			
२२	" "		जिनहर्ष	
२३	लोचन काजल स वाद		सुधनहर्ष	
२४	समकित शील स वाद		जयवत	
२५	समुद्र कलश स वाद		अजितदेव सूरि	
२६	समुद्र वाहण स वाद	१७५५	उदय विजय	
२७	ज्ञान दर्शन चरित्र स वाद		यशोविजय	
२८	जिह्वा-दांत स वाद	१८२८	विजयलक्ष्मीसूरि	
२९	सुखड़-चपक स वाद		नरपति	
३०	भरत बाहुबली स वाद पद्य ८६	१८ वीं शता	लक्ष्मीवल्लभ	देसाई स ग्रह
				"
३१	रावण मदोदरी स वाद	१६ वी शता		महिमा भक्ति भडार
३२	दाता सूर स वाद	१७ वीं शता	श्री धर	बस्ता स० ७७
३३	मारवणी मालवणी स वाद	१८ वीं शता	शंकर कवि	प्रकाशित
				अभय जैन ग्रन्थालय

इस प्रकार सामू बहू स वाद गुरु शिष्य स वाद उन्दर बिल्ली स वाद मोती सोना स वाद आदि उपलब्ध हैं। जनेतर कवियों के भी रावण मंदोदरी स वाद, दातासूर स वाद, मारवणी मालवणी स वाद हमारे स ग्रह में उपलब्ध हैं। प्रकाशित राजस्थान भारती

दवावैत सज्ञक रचनाएं

हिन्दी भाषा मूलत मध्यप्रदेश की भाषा है और उसके विकास में मुसलमानों का भी काफी योग रहा है। जब उनका शासन यहा प्रचलित हो गया और प्रभाव जम गया तो उनकी भाषा अरबी फारसी के अनेकों शब्दों का प्रचार राज्य सपर्क से हिन्दू जनता में भी होने लगा। इसलिए १४वी शताब्दी से हम अपने प्रातीय भाषाओं के ग्रन्थों में अरबी फारसी के शब्दों का क्रमश प्रचुर प्रयोग पाते हैं। इधर मुसलमानों को भी जनता से सम्पर्क बढाने के लिए स्थानीय भाषा एव बोलियों को अपनाना पडा और इस तरह के आदान प्रदान से कुछ नये रचना प्रकारो की परम्परा भी चालू हुई। उनमें से एक प्रकार 'गजल' का है। १७वी शताब्दी में नगर वर्णनात्मक गजल सज्ञक रचना प्रकार का प्रादुर्भाव हुआ दिखाई देता है। हिन्दी के कवि जटमल नाहर ने लाहोर गजल, शृंगार गजल और सुन्दरी गजल सवत् १६८० के आसपास पजाब में रहकर बनाये उनके अनुकरण में अनेकों जन कवियों ने १८वी और १६वी शताब्दी में एसी नगर वर्णनात्मक पचासों गजलें बनादी। १६वीं के उत्तरार्द्ध एव २० वी मे तो चारण आदि कवियों ने भी उनका अनुकरण किया। यद्यपि अरबी फारसी में जो गजलें प्रसिद्ध हैं वसी शली इन नगर वर्णनात्मक गजलों में नहीं है पर आखिर जटमल, जिसने अपने लाहोर वर्णन को 'गजल' की सज्ञा दी है उसके सामने पजाब में वसी कुछ रचनाए अवश्य प्रचलित होनी चाहिए। अभी तक उसकी पूर्व परम्परा का अनुसधान नही हो पाया।

इसी प्रकार फारसी का एक और रचना प्रकार १७वी शताब्दी से हिन्दी में विकसित हुआ। उसकी सज्ञा है 'दवावत'। पजाब में 'वेतों' का प्रचार तो काफी रहा है, मेरे सग्रह में भी दो वेतें हैं पर "दवावत" सज्ञा वाली जितनी भी रचनाए अभी तक प्राप्त हुई हैं वे सब राजस्थान के कवियों की हैं और विशेषता यह है कि इनकी भाषा प्राय खडी बोली है। फिर भी हिन्दी के विद्वानों को तो उनका परिचय कदाचित् ही होगा, क्योंकि अभी तक वे सभी दवावतें अप्रकाशित ही हैं और वे राजस्थान के भडारों मे ही मिली हैं। खडी बोली क इस रचना प्रकार के सम्ब ध म अभी तक हिन्दी ससार में अजानकारी रहता, अवांछनीय समझकर इस अज्ञात और नई दिशा म प्रकाश डालने के

लिए यह लेख लिखा जा रहा है।

दवावत शब्द का अर्थ अभी तक मुझे उर्दू आदि के कोष ग्रन्थों मे प्राप्त नही हुआ और न फारसी छन्दो सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण हिन्दी ग्रन्थ 'छन्द रत्नाकर' जो मुझे दिल्ली के दि० जनशास्त्र भंडार से मिला है उसमे ही इस रचना प्रकार का विवरण मिला। पर यह निश्चित है कि इसकी परम्परा अरबी फारसी से ही सम्बन्धित है और विशेष सम्भव पजाब से ही इस रचना प्रकार का राजस्थान मे प्रचार हुआ होगा। राजस्थानी भाषा के सुप्रसिद्ध छन्द ग्रन्थ 'रघुनाथ रूपक' मे ७२ प्रकार के डिंगल गीतों के लक्षण और उदाहरण देने के बाद मछ कवि ने दवावत के दो प्रकार और उनके उदाहरण दिये हैं। यथा —

कहे बोहोत्तर मछ कवि गीत प्रबन्ध गिनाय।
राज तिलक वरनन करू 'दवावत' समझाय ॥
तब मछ कवि हर्षित, दवावत बिघ दोय।
एक 'सुद्ध बन्ध होत है एक गद्य बन्ध' होय ॥

टीकाकार ने इसकी विशेष व्याख्या मे लिखा है —

विशेष — यह कोई छन्द नही है, जिसमें मात्राओं वर्णों अथवा गणो का विचार हो, यह अत्यानुप्रास मध्यानुप्रास और किसी प्रकार सानुप्रास वा यमक लिया हुआ गद्य का प्रकार है। यह संस्कृत भाषा प्राकृत भाषा उर्दू भाषा और हिन्दी मे भी अनेक कवियों और ग्रन्थकारो द्वारा प्रयोग मे आया हुआ मिलता है। आधुनिक लल्लूलालजी के प्रेम सागर आदि ग्रन्थों में तथा उर्दू के बहारव खिजा नौवतन आदि ग्रन्थो मे तथा फारसी के ग्रन्थों में भी देखा जाता है। सम्भवत डिंगल वालों ने भी उनका अनुकरण किया है।

यह दवावत दो प्रकार की होती है एक सुद्धबन्ध अर्थात् पद बन्ध जिसमे अनुप्रास मिलाया जाता है और दूसरी गद्य बन्ध जिसमें अनुप्रास नही मिलाते। पद्य बद्ध दवावत का उदाहरण —

अथ दवावत पद बन्ध —

प्रथम ही अयोध्या नगर जिसका बरणाव।
बार जोजन तो चौडो सोल जोजन की छाव।
चोतरफू के फलाव चौसट जोजन के फिराव।
तिसके तलें सरिता सरिजू के घाट।

अत उतावल सू यहे, चोसर कोसों के पाट।
बडो बडी किताबू म, जिस गगा का बखाण।
केतो बार नगरी कूं, मेली निरवाण।

२ गद्य बद्ध का उदाहरण —

दूहा — कहे मद्य इतरी कहो, पद बन्ध नाम प्रबन्ध।
दवावत फिर दूसरी, कहूं हम गदबन्ध।

उदाहरण — हाथियों क हलके समू ठाणा त खोले।
ऐरापत के साथी भद्र जाति क टोले।
अत देहु क दिग्गज विन्ध्याचल मे सुजाव।
रग रग चित्रे सु डा उडू के बणाव।
भूल को झलूमे वीर घटुके ठणक।
बादलों की जगमगा भरे भौरों को भकी भण के।
कल कदमु के लगर मारो कनक की हूँस।
जवाहर के जेहर बीच माला की कूस।
भाग्रू के आडम्बर चहु तरफ कू भाले।
माहुत न गज ऐसा हाजर कर राले।
वरण वरण के विलास खेतु में कायम।
आरसी से मजुल मूखमलू से मुलायम।
वर बागु के साचे पल राउसी धाव।
खुर तालु के झमके सत सिपा के सिलाव।
आउ जाउ मे चकी निरत करवे में हूर।
जग जगू में परीत, सालोतरू में पूर।

दवावैत सम्बन्धी छन्द ग्रन्थ, क उदहरण देकर अब हम प्राप्त दवावता का सक्षिप्त परिचय उपस्थित कर रहे हैं।

१ उपलब्ध दवावतों म सबसे छोटा और पुरानी रचना "नरसिंहदास गौड की दवावत" है, जो भाट मालीदास गगादास के पौत्र न कही है, इसका प्रारम्भिक अश तो राजस्थानी मे है, आग का पद्य खडी बोली म है। दोना के कुछ उदहरण नीचे दिय जा रहे हैं —

अथ दुवावत नरसिंघ दास गोड री ।[1]

भाट मालीदास गगादास रे पोत रे कही ।

आदि— होंदवाण छात हींदवाण सूर, अजमेर जोधपुर मारणपुर ।

अजूवाल वश असवा अरोड ढोलडी भोच महिपत्या भोड ।

मध्य— सवा मरदां जागता है, जगत म बखतौं जागता है ।

भोमिया शत्रु भागता है, तरो गिरों आलागता है ।

नित दान त्यागते हैं, गो सूर ववते हैं ।

असर्नान सभते हैं, सवा विस्तरते हैं ।

पूजा पारते हैं, दहलो वारते हैं, सहलो सिधारते हैं ।

अत — राज राज नरसिंह जेत कवि मालीदास कहे दवावत ।

इस रचना की प्रति १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की लिखी हुई अनूप सस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर मे है अत १७वीं के अन्त या १८वीं के प्रारम्भ की यह रचना है ।

२ दूसरी रचना जन कवि राम विजय (सुप्रसिद्ध नाम रूपचन्द) द्वारा रचित 'जिन सुख सूरि दवावत मजलस नामक है जो सम्वत् १७७२ म रची गई है । उसमे मजलस और दवावत दोनों सज्ञाए साथ साथ दी हुई हैं । रचना बहुत छटादार है ।

आदि — अहो आओ ने यार बठो दरबार ।

स चांदनी रात, मजलस की बात ।

कहो कौण कौण मुलक, कौण कौण राजा देख ।

कौण कौण पातिसाह ? देखे

कौण कौण वईवान देखे ।

कौण कौण महिरबान देखे ।

---

१ चारण कवि किसना जी आढा रचित 'रघुबरजस प्रकाश प्र० राजस्थान पुरातत्व मन्दिर के पृष्ठ ८५ में दवावैत का उदाहरण तो दिया है पर लक्षण नहीं बतलाया गया है ।

दवावत फिर बात दख, तुगत बचनका जाण ।

औंछ अचक तुक असम पै, बीदग गद्य बखाण ॥

अथ दवावैत

महाराजा दशरथ क घर रामचन्द्र जनम लिया ।

जिस दिन से आमक न उदेग देवू ने हरख किया ॥

दिल्ली वईवान फरुक्साहि सुलतान देखे ।
चीत्तोड सग्रामसिंघ दीवान देखे ।
जोधाण राठौर राजा अजित सिंह देखे ।
बीकाण राजा सुजान सिंह देखे ।
आमेर कछवाहा राजा जयसिंह देखे ।
जसाण जादव रावल बुधसिंह देखे ।
ए कसे है ? बडे सुविहान हैं, बडे महरबान हैं ।
बडे सिरदार हैं, वडे वजदार हैं वडे दातार हैं ।
जमीं आसमान बीचि शभु (क) अवतार हैं ।
अत — श्री पूज्य जिन सुखसूरि आई पाट विराजते हैं ।
इद्र से छाजते हैं, धम कथा कहते गाजते हैं ।

३ तीसरी मजलस जा इसा शली की है पर है बहुत विस्तृत । अभी तक प्राप्त सभी दवावतों मे यह सबसे बडी है । जिसका परिचय आगे दिया जा रहा है— राजस्थान के तपागच्छीय कवि कनककुशल और कु वरकुशल दोनो गुरु शिष्य १८वी के अन्त म कच्छ-भुज पहुँचे और वहा के महाराव लखपत न इन्ह अपना गुरु मान कर बहुत आदर के साथ वहा रख लिया। राव लखपत ने साहित्य और काव्य की शिक्षा इनसे ग्रहण कर ब्रज भाषा म कुछ ग्र थ भी बनाए हैं साथ ही उसने एक ब्रज भाषा का विद्यालय भी इन जैन महात्माओ के तत्वावधान म चालू कर दिया । जिसमें रहन, खाने आदि का प्रब ध राज्य की ओर से था । इस सुविधा के आकर्षण से राजस्थान गुजरात और सौराष्ट्र के अनेकों छात्रों न आकर यहा काव्य कला और साहित्य शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की । भट्टारक कनककुशल और कु वरकुशल ने ब्रज भाषा में लखपत नाम माला परसात नाम माला (फारसी शब्दो का कोश) ये दो कोश और लखपत पिंगल, गोहड पिंगल नामक छन्द ग्रन्थ, लखपत जस सिंधु नामक अलकार ग्रथ और सुन्दर शृ गार आदि की टीकाएं बनाइ । महाराव लखपत का बहुत बिस्तार स सुन्दर वणन कु वरकुशल रचित "दवावत म मिलता है ।

इसकी प्रति टिप्पणीकार स्वय कु वरकुशल की लिखी हुई मुनि पुण्य विजय जी की कृपा से दखन को मिली । रचना सवत् १८०० के आस पास की है ।

४ चौथी रचना 'जिन लाभ सूरि ववावत' खरतर गच्छीय कवि वस्तपाल (वाचक

विनय भक्ति) रचित हमारे स ग्रह मे है इसके प्रारम्भ मध्य ग्रौर ग्र त म कुछ पद्य भी हैं यहां वचनिका गद्य का ही कुछ उदाहरण दिया जाता है —

ऐसी पद्मावती माई, बडे बडे सिद्ध साधकों ने ध्याई।
तारा क रूप बौद्ध शासन म समाई।
गौरी के रूप शवमत वालो ने गाई।
जगत मे कहानी हिमाचल की जाई।
जिस बात म सरस्वती हू का न रहा सालरा।
तो ग्रौर कवीश्वरों का क्या विचारा।
पर जिन जिन को जसी उक्ति, ग्रौर जसी बुद्धि की शक्ति।
तिन माफक तुक बहुत कह्या ही चाहिए।
बडे बडे कवीश्वरों की उक्ति देखि हिम्मत हार न बठे रहिए।
यातें सब गच्छ राजन के महाराज गच्छाधिराज श्री।
जिन लाभ सूरि दवावैत कही गुन गाया।
ग्रपनी कविता पुनि स्वामी धम का फल पाया।

जिन लाभ सूरि का समय सवत् १८०४ से १८३४ तक का है ग्रत इस दवावत की रचना स० १८१० ग्रौर १८२० क बीच की होनी सभव है। उपयुक्त चार दवावैतों में से पहली भाट कवि की है ग्रौर पिछली तीनो जन कवियो की है। जन कवियो की इसके बाद की कोई रचना नही मिली ग्रौर न किसी भाट कवि की ही। ग्रब ग्रागे ४ चारण कवियों की दवावतों का परिचय दिया जा रहा है।

५ चारण कवियों की दवावतो में महाराजा ग्रजितसिंह की दवावत सवत् १७७२ में रची गई। इसकी सव प्रथम सूचना मुझे श्री सीताराम जी लालस से मिली ग्रौर इसकी प्रतिलिपि राजस्थानी भाषा के प्रबल समथक कवि उदयराजजी उज्जवल से मिली। मैंने जब उन्ह इसकी नक्ल भजने क लिए लिखा तो उन्होने स्वय ग्रपने हाथ से १६ पृष्ठो मे *नक्ल करके तारीख २८-१-५६ को मुझे भेज दी, इसके लिए आपका मैं विशेष रूप से* ग्राभारी हू। उसके बाद मैं ग्रपने विद्वान डॉ० दशरथ शर्मा से दिल्ली मिला तो उनक पास पडे हुए हस्तलिखित ३ गुटके देखे सयोगवश उन में स एक गुटके में ग्रजितसिंह जी की दवावत मिली ग्रौर दूसरे दो गुटको म भी एक एक ग्रन्य दवावत प्राप्त हुई। ग्रत तीनों गुटक मैं ग्रपने साथ ल ग्राया, इसके लिए मैं डा० दशरथ जी का ग्राभारी हूं।

चारण कवियों में दवावैत की परम्परा इससे पहले भी रही होगी पर मुझे उपलब्ध तीनों दवावतों में जोधपुर के महाराजा अजितसिंह जी की दवावैत ही सबसे पुरानी है। इसमें प्रारम्भ मध्य और अंत में १२ दोहे, ३ कवित्त, और दो गाथाएं भी मिलती हैं बाकी वर्णन तुकान्त गद्य में हैं। प्रारम्भ और अन्त इस प्रकार है।

अथ दवावैत महाराजा श्री अजितसिंहजी री —

दोहा— मन बुध मिल कीधो मतो, सिवरों आद गणेश।
महाराजा अजमाल नै, शब्दाडम्बर कहेश॥
देवा भगवाणी जपूं, सेवा तन सूं काल।
दवावत आदि दिवो, ब्रह्मा वयण विसाल॥
अथ गणपत गुण धाम विमल कूं ध्याऊं।
(जिन) चौरासी अंग रचण जात जात के बहु जताऊं॥
ऐसा श्री गणेश सिध बुध का राजा।
रक्त का भण्डार मुकत का दरवाजा॥
तैतीस क्रोड देवता का अगवाणी।
रुद्र सा पिता माता भी रुद्राणी॥
मेरु ही बता हस्ति का सा आनन।
सिन्दूर का टीका मूसा सा वाहन॥
विवर सीना भी दरयाव सा उदर।
रुद्र ही सारसा ग्यारहवां रुद्र॥
ऐसा श्री गणेश को प्रथम नमस्कार कीजे।
राजान के राजा महाराजा श्री अजमाल कूं दवावैत कहीज॥
दूसरा नमस्कार सरस्वती कूं करणा।
सुमत को दाता, कुमत को हरणा॥
हंस गवनी हंस वाहनी देवी।
सुर नर नाग गण गन्धर्व सेवी॥
मध्य— महाराजा अजमाल मावता को मावता,
अनमावता को महंमाला महता,
क्या कहावणा, बादाणे भी राव नानाणे भी राव।

बडों की बडाई पुरषों की प्रभुताई सब सरां सुणाई,
रीझ मोज पाई महोला लिया, प्रवहल किया।
क्रोड क्रोड रा किलाण क्रोड दिवाली राज।
जदावत सिंह गजसिंहोत राऊ मरुधर राज।
प्रन्त— दवावत द्वादश दोहा, तीन कवित्त दोय गाह।
सतरह सो बहोत्तर कव द्वार कहियाह॥

डा दशरथ जी के गुटके के पत्रांक ६१७ में लिखी हुई है द्वारकादास दधवाडिया की कही हुई 'द्वावत महाराज प्रजितसिंह जी री' प्रति एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ते के सग्रह में भी है।

६ चारण कवि रचित दूसरी दवावत बीकानेर के महाराजा सरदारसिंह जी की है। यह काफी बडी है। इसमे राठोडो की वशावली से प्रारम्भ कर महाराजा सरदारसिंहजी तक का वर्णन किया गया है। इसमे भी प्रारम्भ और मध्य में दोहा कविन दिये गये हैं। गद्य की सज्ञा 'वचनिका' दी गई है। मुझे जो गुटका प्राप्त हुआ है उसमे ३१ पत्र के बाद २६ तक पत्र नही है। इससे ग्रन्थ का अन्त जो इसी बीच पूर्ण होता था वह प्राप्त नहीं हो सका अत कवि का नाम और रचना काल अज्ञात है। प्रारम्भ और मध्य का कुछ अश नीचे दिया जाता है —

अथ दवावत महाराजा श्री १०८ सिरदारसिंह जी री लिखते—
दोहा— वन्दौ श्री गणपत विमल ग्रापहु सु बुध उदार।
कमधेश्वर के जस कहू अपनी मति अनुसार॥
वरणमाल के मध्यवर जुगल वरण रमजान।
कारण त्यों सब वश के मुहर दीध कुलमाल॥
उद्ध गमन जुग वरण के सब वरणन पे होय।
कुल सब ही पे भानु कुल कहे उद्ध व सब कोय॥
वरण प्रथम जिह वशवर रवि कुल भूप उदार।
जाकी जुग जाहर जगत सबला पन लत सार॥
अविनाशी अवय अलख आदि पुरुष अलखेश।
तिह नाभि प्रम्भोजते चतुरानन उपजेश॥

अथ वंश सूचित वचनका—

हरण गर्भादि सुचित्रान्त अथहरणे ।
वर विध रवि वंश वेदव्यास मुख वरणे ।।
एक सत तेवीस पुस्त गिनती परवान ।
जग चलक वंश सुचित्रान्त भये जान ।।

मध्य— पंदरह से पैंतालसे, सुध वैशाख सुमेर ।
थावर बीज थरपियो, बीके बीकानेर ।

वचन का— जिस बीका ने बीस भोमिचार तोड़ कर अपना राज बान्धे ।
फतह के निशान अरसत सान्धे ।।
पीछ राव जोधा के तिलक छत्र सुजा ने पाए ।
जाकी सुन दलबल सज विक्रम भी धाए ।।
अस्सी हजार फौज से राव कूच किया ।
लाग तरफ दखण से शहर लूट लिया ।।
जशमादे हाडी मां से दिन चढ़ धाये ।
सुत पै सरसाय नेह नीक समझाये ।।
पीछ राव माजी का कहा मान लिया ।
लेके पूजनीक वस्त्र कूच सेन किया ।

तीसरी चारणी दवावैत बीकानेर के प्रसिद्ध और इतिहास लेखक सढायच दयालदास ने अपने जस रत्नाकर नामक इतिहास ग्रन्थ में दी है यह भी अधूरी ही मिली है । अनूप सस्कृत लायब्रेरी में सम्भव है पूर्ण मिल जाय । इसकी रचना भी बीकानेर के महाराजा श्री रतनसिंहजी का वर्णन इसमें होने से १९ वी (उन्नीसवीं) शताब्दी के अन्त में ही हुई है ।

आदि दोहा— भूत विध तहां वरणुं सुखद नृप अभिषेक विधान ।
वरणौ नृप नृपता विमल, पद यम्द वैत प्रमान ।।

अथ दवावत— गणपति दोज बुध उक्त का ज्ञान ।
मैं गाऊं बीकानेर पति मघवान ।।
पारथ से वरणा चली भारत भीम ।

पनोछत परमारथ क सुदाता के सोम ॥
वचनों के दरवासा सील क गमेल ।
तपस्या के मृत्यञ्जय रावन अभिमेल ॥
मध्य— जिस छभा में महाराज के कविराय ।
विद्या के सागर जन रस के विभाव ॥
कस्यप सै उत्पति प्रारब्दे मात ।
दिनकर पुराण व्यास वरण विख्यात ॥
शील के सदन जुत घम की मरजाद ।
पट भाया जाणगर अमर कुल प्राद ॥

चौथी रचना दुरगादत्त कवि की है । जिसकी स ि प्रथम सूचना मुझे डॉ० अचल शर्मा क थीसिस स मिली कि इसकी प्रति डा० मथुरालाल जी शर्मा के पास है । उनको मैंने दो-तीन पत्र दिये पर प्राप्त न होन से डॉ० अचल शर्मा स ही नकल मगवाई । फिर तो श्री सीताराम लालस से विदित हुआ कि इसकी हस्तलिखित प्रति उनक पास भी है श्री अचल शर्मा की प्राप्त नकल में स्थानों और व्यक्तियो के नाम छोड़ दिये गये हैं । पर उनकी सूचनानुसार यह इसरदा ठिकान स मिली है । १९वी उतराद्ध या २०वीं के पूर्वार्द्ध में दुर्गादत्त चारण किसी ठिकाने में कुछ प्राप्ति की आशा से पहुँचा, पर उसे वहा उचित पुरस्कार नही मिला उससे खीज कर उसने यह निन्दात्मक दवावैत बनाई । प्रारम्भ मे ही कवि कहता है —

पूव की तरफ राजावटी देस ।
रोभू का रवास भाडू का भेश ।
जिस देश मे ईसरदा नाम का गांव ।
बेवकूफों का वास । धूरतों का धाम । मगतू का—
मोहल्ला, कगालू का कोट । हीजडू का सहर,[१]
जाडू का जोट, चुगलू का चबूतरा, सगलू[२] का
रवास । कुकरमू का कोठार, अधमू का[३] ऐवास ।
भूक[४] का भांडा, मानजादू का मुकाम । अनीत का अखाडा

१ शहर २ रगला ३ आदलों ४ भूख का भण्डार

अदूतों का आराम । हराम का हटवाडा । हराम खादू की हाट
खोटू का खजाना । परेतू का पाट । विपत का बगीचा ।
बुराई का वास । काल का कुशाला । मरी का मेवास ।
ठगू का ठिकाणा, सौटू की सराय । पाप का पुवाड़ा ।
असतो का अलाय भूतों का भण्डार । सौकोरियों का सहायक ।
डाकणियों का दरबार रोग का रजवाडा । सोग की सिरकार ।
कायरू की कुटी । चोरू का आवार ।

अंत— राजारत रघुनाथ री बिरह हदीवय ।
देखी जिमको वेदक दाखी दुरगादत्त ।

डॉ० अचलजी ने इसे दवा वैत गद्य का बहुत उत्तम उदाहरण बतलाते हुए लिखा है कि इसके गद्य वयण सगाई की अनुपम छटा है, वर्णन शैली गद्य की प्रवृत्ति का प्रतीक है, इस प्रकार के गद्य से पता चलता है कि राजस्थानी गद्य में पद्य के अनुकरण पर अन्त्यानुप्रास, मध्यानुप्रास या किसी अन्य प्रकार के अनुप्रास व यमक आदि की छटा देखने को मिलती है। पद्य में पाये जाने वाले प्रसिद्ध अलंकार वयण सगाई इस गद्य में भी मिलता है, जो गद्य शैली की प्रवृत्ति का प्रतीक है।

बारहठ दुरगादत्त रचित वत की एक प्रति कलकत्ता की ऐसियाटिक सोसाइटी के संग्रह में राजस्थानी विभाग प्रति न० पी० ३६ सी० में है।

उसका उदाहरण सूची पत्र में इस प्रकार दिया गया है—

अत बारहठ दुरगादत्त री कही—
एक रम हम सोया हु नय ख्वाब पाया ऐन ।
बजगाह की हर वख्त तें फिर वहून लागे चन ॥
एक अजब एसालक बाग था परवस्त आदम बार ।
स्यव गुलम दरगन बोच रसते गाव चनत फुहार ॥

बारहठ दुरगादत्त की अन्य रचनाएँ भी बंगाल हिन्दी मण्डल में प्राप्त हैं। एसियाटिक सोसाइटी के संग्रह में अन्य दवावत रावजी श्री भगवानदासजी री बारहठ सुमाण री कह्यौ' नामक रचना की प्रति भी है। सूची में उसका आदि अन्त इस प्रकार दिया है—

अथ दूहा— सरसती ब्रह्मा पुत्री बीज उक्ति वर्ताइ ।
भूप बखाणू रायण तणा दवावत गुण गाइ ॥१॥
गवरी नन्दन गज वदन, द अक्षर उपदेस ।
वाषाणू भूपपति गुणे रिमो देभ्रण खगरेस ॥२॥

अन्त दोहा— भागीरथ राजा का दू सोह जाणग विध ।
मे मति सारे माहरो दुवावैत गुण किध ॥१॥

बगाल हिन्दी मण्डल के रजिस्टर न० ५७ में एक दवावत होने का उल्लेख है पर वह किसके द्वारा रचित है इसका विवरण सूची में नहीं है।

इसके अतिरिक्त सरस्वती भडार उदयपुर के सग्रह में कुवर सग्रामसिंह या महाराणा उदयसिंह की दवावत है जो मेवाडी भाषा में है और प्राप्त प्रति सवत् १८६७ की लिखी हुई है। इस रचना का परिचय शोधपत्रिका वष ८ अक १-२ में प्रकाशित हो चुका है। सम्भव है अधिक अनुसधान करने पर और भी कुछ ऐसी रचनाए प्राप्त हो जाय। हिन्दी और राजस्थानी इन दोनो भाषाओं में दवावैतो का पाया जाना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनमे कई रचनाओं मे वर्णन बहुत सुन्दर है। भाषा और शैली भी बडी सरस एव सजीव है।

अन्य उपलब्ध दवावतों की सूची इस प्रकार है —

१ दवावत भींवजी विट्ठलदासोत गौड री— महेसदास राव— १७१५-१७३० के मध्य
२ दवावत अखमाल देवडा री— मेहडू विहारीदास— १६७४-१७३०
३ दवावैत चारणकवि कविया करणीदानजी री कही (सूरज प्रकाश में) — १७८७
(अ) जोधपुर नगर वर्णन (आ) षड भाषामय प्रतोल्लेख
(इ) हस्ती वर्णन (ई) सरबिलद खान की सैनिक तयारी
४ दवावत आसिया बखतरामजी री कही (रूपग दीवाण भीमसिंह जी का में)
(अ) राज्य वभव वर्णन
(आ) आखेट वर्णन
५ दवावत उदयपुर नगर वर्णन— आढा किसना— (भीविलास छ० ६७४)
६ दवावैत देवीसिंह चूडावत री— भादा कृपाराम
७ दवावत महाराणा जवानसिंह जी री— आसिया तेजराम

८ दवावत श्राशिया बख्तराम री कही (कीरत प्रकाश में)

९. दवागैत स्वा सरूपदासजी री कही— (पाडव यशेंदु चद्रिका में)

१० दवावत डा० देवीसिंह मगतावतरी कही (सुजानसिंह जी री बात में)

(अ) सुजानसिंह जी का नखसिख वर्णन स० १९१०

(आ) अश्व वर्णन (इ) शस्त्र वर्णन

(ई) सजना सौंदर्य वर्णन

११ दवावत म० शभूसिंहजी र ताजेरी सवारी री— (शभूजसप्रकाश में)

— कविराज बख्तावरसिंह जी— स० १९२१

१२ दवागैत राव गिरवरदान री कही (ग्रन्थ शिवनाथ प्रकाश में)

१३ सुपना भाव गैत— कविराज गुमान जी

१४ दवागैत रामदयाल री— अज्ञात*

अभी तक यह समस्या सुलझ नहीं पाई है कि ऐसी दवागैतों की रचने की प्रेरणा राजस्थान के कवियों को कहा से मिली और प्रारम्भिक रचनाएँ जब हिन्दी प्रधान हैं तो हिन्दी के क्षेत्र म ऐसी रचनाएँ रची जानी चाहिए, पर वे प्राप्त क्यों नहीं हैं ? आशा है भविष्य मे इस दिशा में विशेष अनुसधान होगा ।

*सौभाग्यसिंह शेखावत — शोधपत्रिका वर्ष १३ अक ४

सलोका संज्ञक रचनाएं

राजस्थान और गुजरात में विवाह के समय वर और जनतियों द्वारा सलोके (देवी देवताओं के एक विशेष प्रकार के छद) कहने की प्रथा है। शहरों मे तो अब यह रिवाज उठता जा रहा है, पर गांवों म अब भी प्रचलित है। इसकी परपरा कितनी प्राचीन है, इसका पूवकालीन रूप क्या था वतमान सलोकों का विकास कब से व किस प्रकार हुआ, इस सबध में प्रस्तुत लेख में विचार किया जा रहा है।

मुनि लावण्य समय के 'विमल प्रबध' ग्रन्थ में इस परपरा की प्राचीनता सोलहवीं शताब्दी के पूव की सिद्ध होती है। इस प्रबन्ध मे विमल मत्री के विवाह प्रसग में वर के तोरण पर पहुँचने पर साले के द्वारा प्रेरित होकर वर के श्लोक बोलने का उल्लेख इस प्रकार है —

पुहता तोरणि जोई लोक, सोक्या साला कहि सलोक।
विमल वाणी श्रवणे सांभली, क्या साला ते वह दिसी टली ॥६४॥

सौभाग्यवश मेरे अन्वेषण में पन्द्रहवीं सोलहवी सदी के प्रारभ में वर के द्वारा ये सलोके किस प्रकार कहे जाते थे? इसके उदाहरण स्वरूप एक रचना मुझे प्राप्त हो गई है। इसके अनुसार १६ वीं शताब्दी में वर अपने साले को सबोधित करता हुआ प्रारभ में अपने आराध्य देव, गुरु, कुलदेवी गो, माता पिता, नगर, तत्कालीन शासक उसकी सभा या परिकर एव तोरण आदि क वणनात्मक सलोके कहता था। प्राप्त रचना क अत में गणेश व सरस्वती को सुख देने की प्रार्थना की गई है। बीच में विवाह मडप कन्या की प्राप्ति और साले की कौतुहल पूण करने आदि का उल्लेख है। इससे वतमान सलोके क जाने वाली रचनाओं का पूव रूप ज्ञान हो जाता है।

सलोके का मूल शब्द "श्लोक" है। जन भाषा म सलोका या सिलोका शब्द प्रचलित हो गया है। इसकी रचना का प्रारम्भिक कारण वर की शिक्षा एव बुद्धि परीक्षा लेना रहा होगा! जब वर विवाह के समय ससुराल जाता था, तो तोरण पर उसकी शिक्षा एव बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए साले के द्वारा कुछ श्लोक कहे जाकर वर को कुछ

वर्णनात्मक श्लोक कहे जाने की प्रेरणा की जाती थी और उसके उत्तर में वर कुछ श्लोकों में अपने वंश आदि का परिचय देकर अपनी प्रतिभा का परिचय देता था। इस लेख में वर्णित रचना के अतिरिक्त खरतरगच्छ के शान्तिसागर सूरि और जिनसमुद्रसूरि के प्रवेश उत्सव आदि के वर्णन वाली दो राजस्थानी गद्य की विशिष्ट रचनाएं हमें और प्राप्त हुई थीं, जिन्हें राजस्थानी (निबंधमाला) भा० २ में हम प्रकाशित कर चुके हैं। उनकी पंक्तियों का प्रारंभ भी 'अहो सालक!' इन शब्दों के सम्बोधन द्वारा होता है। अतः वे भी विवाह प्रसंग में वर के द्वारा साले को सम्बोधित करके कही जाने वाली श्लोक रचना के रूप में ही बनाई गई प्रतीत होती है। जैसलमेर के बड़े ज्ञान भण्डार के फुटकर पत्रों में जिनभद्र सूरि और उनके शिष्य जिनचन्द्र सूरि की वर्णनात्मक दो रचनाएं हमारे अवलोकन में आई थीं। इन रचनाओं का निर्माण वरों ने नहीं किया पर जैन मुनियों ने उनके तोरण पर बोलने के लिए किया होगा। सभी वर कोई रचना करने वाले नहीं हुआ करते। अतः वे ऐसी रचनाओं को याद कर लेते थे और रटी हुई रचनाएं प्रसंग पर बोलकर अपना काम निकाल लेते थे। आज कल भी यही होता है। अब सलोके वर स्वयं नहीं कहता, जानी एवं मांडी, दोनों सम्बन्धी-जन परस्पर सलोकों की होड़ लगाते हैं। यदि वर पक्ष के जानियों को या वर के कुटुम्बी जनों को सलोके नहीं आते तो वे हंसी के पात्र होते हैं और उन्हें नीचा देखना पड़ता है। सत्रहवीं शताब्दी से सलोकों के रचे जाने की गली में अन्तर आ गया। इस समय से ऐसे सलोकों के लिए एक छन्द रूढ़ सा हो गया। अब संस्कृत में श्लोक रचना न की जाकर भाषा में ही उस रूढ़ शैली में सलोके बनाए जाने लगे। १८वीं शताब्दी में यह प्रथा और भी अधिक चली और १९वीं में तो जोरों से अनेकों रचनाएँ बनीं। अभी तक जैन जैनेतर करीब सौ के ऊपर सलोके मेरे जानने में आए हैं। २० वीं शताब्दी में भी अनेकों सलोके रचे गये और उनके कई संग्रह ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं।

जैन मुनियों ने इस प्रकार की रचनाओं के निर्माण में बड़ी दिलचस्पी दिखलाई। उनकी रचित रचनाओं का विवरण "जैन-सत्य-प्रकाश" के कई अंकों में (मेरे एवं प्रो० हीरालाल कापड़िया आदि द्वारा) उपस्थित किया जा चुका है। जैनेतर सलोकों की भी मैंने एक सूची तैयार की है। प्राप्त रचनाओं की सूची लेख के अन्त में दी जा रही है। ये सलोके राजस्थानी भाषा में ही अधिक रचे गये हैं इससे सलोकों के कहने की प्रथा राजस्थान में ही अधिक रही प्रतीत होती है। गुजराती भाषा के सलोके थोड़े ही प्राप्त हैं।

सलोके की शैली को राजस्थानी भाषा के छंद-ग्रन्थ "रघुनाथ रूपक" में गद्य

काव्य का ही एक प्रकार माना है क्योंकि इसमें मात्रा आदि का इतना विचार नहीं होता। यह साधारण लोगों के द्वारा अधिक रचे गये हैं, जिन्हें काव्य निर्माण प्रणाली एवं छन्दों का विशेष ज्ञान नहीं होता है। जैन कवि विद्वान अवश्य थे, पर उन्होंने भी प्रचलित शैली को ही अपनाया। इन सलोकों में देवी देवताओं एवं वीरों के गुण वर्णन की ही प्रधानता है। इनको बोलने की विशेष लय है। उच्च स्वर में जब उस लय में सलोके बोले जाते हैं तो सुनने वाले लोग बड़ी उत्सुकता के साथ टकटकी लगाये हुए उन्हें सुनते हैं। कई सलोकों में वीर रस की प्रधानता होती है। उनके सुनने से तो हृदय फड़क उठना स्वाभाविक ही है, पर अन्य सलोकों में भी महापुरुषों से सम्बन्धित होने के कारण उनके चरित्रों का चमत्कारिक वर्णन रहता है जो लोक प्रिय होता है। रघुनाथ रूपक के अनुसार यह वचनिका के समान तुकान्त गद्य वाली रचना है। अन्त के तुक मिलने के कारण और शब्दों की सीमितता से यह गद्य शैली काव्य जैसी ही लगती है, इसलिए इसे काव्यगत सलोका छन्द कह सकते हैं।

रघुनाथ रूपक में सलोकों की शैली का उदाहरण इस प्रकार है —

बोले सीतापत इसडी जो वाणी, सुरनर नागां ने लागै सुहाणी ॥
सेसाजल हणमन्त जिमणी सरसाई, वीरां अवरां रो कीधी वडाई ।
धनुधर रा वायक सांभल जोधारा, पोरस अंगों में वधियो अणपारा ॥
पुलयै कर जोड़ी जीतव फल पायो मोन धी सांवद इतरो फुरमायो ॥

सत्रहवीं शताब्दी से अब तक के रचित सभी सलोके इसी शैली में रचे गये हैं।

प्राप्त सलोकों की सूची

१ अष्टापद सलोको विनीत विमल स १७३३ के पीछे
२ आदिनाथ सलोको " स १७३६ से पूर्व प्र सलोका संग्रह
३ विमलमेतानो सलोको गा ११७ उदयरत्न स १७६५ रेहा
४ ऋषभदेव सलोको जिनरूप १८ वीं शताब्दी
५ कल्याणजी सलोको गा २३ माधव अभय जैन ग्रंथालय
६ केशरियाजी रो सलोका गा ११ उत्तमचन्द स १८५६ शांति सागर संग्रह
७ क्रोध सलोको प्र सज्झायमाला
८ चन्दराजा रा सलोको गा ५१ पन्नीराम स १८१५ प्र सलोका संग्रह
९ जसलमेर चढ़ती दसा रो सलोको रामचन्द्र स १८ ८ अभय जैन ग्रंथालय
१० झूठाजी दपजी रो सलोको

११ नेमिनाथ सलोको गा ४८ राजलाभ स १७५४
१२ " " गा ४९ जिनहर्ष
१३ " " उदयरत्न
१४ " " गा ६५ विनीत विमल
१५ " " मोती मालु स १७९८
१६ " " देवचन्द्र स १९००
१७ " " गा ५३
१८ " " गा २८ प्र स्तवन स ग्रह
१९ " " गा ६ प्र श्लोका स ग्रह
२० नेमी राजुल सलोको प्र गोविन्द भनसाली
२१ पारवचन्द्र सूरि सलोको कुशलविजय स १७५९
२२ पार्श्वनाथ सलोको मेघराज
२३ " " जोरावरमल स १८५१
२४ " " गा २६ गोपाल
२५ " " गा ३७ दौलत स १८४०
२५ भरत बाहुबली सलोको उदयरत्न
२६ मान सलोको प्र श्लोका सग्रह
२७ माया सलोको प्र सज्झाय स ग्रह
२८ मघकुमार सलोको गा ७५ महानन्द प्र "
२९ लोकांगा सलोको स १८२३
३० लोभ सलोको प्र लोकांगाह
३१ वासुपूज्य सलोको गा ४० प्र सज्झाय स ग्रह
३२ विजयलक्ष्मी सूरि सलोको जिनेन्द्र सागर
३३ विमल मत्री सलोको गा १११ विनीत विमल १८ वीं शताब्दी प्र सलोका स ग्रह
३४ विवेक विलास सलोको देवचन्द्र
३५ शालीभद्र सलोको १९३० प्र श्लोका स ग्रह
३६ सिंह १७८१ प्र रत्नसागर
३७ " उदयरत्न १७९० प्र सलोका स ग्रह
३८ " गा ४४ प्रभय जन ग्रथालय
ऋषि लोहा प्र जन सज्झाय स ग्रह

३६ शालिभद्र सलोको उदयरत्न १७५६ प्र. सलोका संग्रह
४० सखेश्वरजी का सलोका १७८४ "
देवविजय
४१ "
४२ शांतिनाथ सलोको गा ४३ मणिविजय १७७०
४३ सिद्धाचल सलोको सघवी प्रेमजी अमरविजय प्र. जैन युग
४४ हीरविजय सूरि सलोको विद्याधर
४५ सरस्वतीजी रो सलोको

जैनेतर सलोके

१ माणनो सलोको गंगादास १७६३
२ रणछोड जी नो सलोको सामल भट्ट १७८१
३ रूस्तम नो सलोको " १७८१ प्र. सलोका संग्रह
४ सीताराम रावण सलोको गा १६ "
५ शङ्कर महादेव सलोको गा ११ "
६ माधवराव जी रो सलोको गा १६ स १८५७ माघ वदी ५ "
७ रामसापीर रो सलोको गा १२ "
८ चांपावत सवाईसिंह सलोको गा २६ "
९ भीमसिंह जी रो सलोको गा २३ "
१० लक्ष्मणजी रो सलोको गा २२ १८५२ अभय जैन ग्रंथालय
११ भरू जी रो सलोको गा ३ "
१२ सूरजजी रो सलोको "
१३ रामदेवजी रो सलोको अगरचंद स १८१० "
१४ कुशलसिंह जी रो सलोको "
१५ अमरसिंह राठोड रो सलोको "
१६ बालाजी रो सलोको "
१७ अजीतसिंहजी रो सलोको "
१८ जमलजी रो सलोको मोतीचन्द खजांची संग्रह में
१९ जामांजी रो सलोको
२० अमरचन्द सुराणा रो सलोको

करीब ३५-४० वर्ष पूर्व प्रतापसागर पुस्तकालय जालना से "मारवाड़ी ब्याह में बोलने का सलोका" नाम से एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें १८ सलोके प्रकाशित हैं। उनमें से एक को छोड़कर सभी के कर्त्ता पूनमसिसवाल (ईडा निवासी विप्र) हैं जिसने सं० १९७२ से १९७५ तक में प्रकाशित किये हैं। केवल जाति सुथार का सलोका रामकिशन ने सं० १९७३ जेठ वदी १३ को शोलापुर में बनाया है, वह इस संग्रह में छापा है। पूनमचन्द रचित सलोकों के नाम इस प्रकार हैं।

१ गणपति जी रो सलोको	१० बाप बेटी रो सलोको
२ सुथार ,,	११ वेश्या रो ,,
३ फलौधी माता ,,	१२ लक्ष्मीनारायण ,,
४ शंकर महादेव ,,	१३ सतीमाता ,,
५ रामसापीर ,,	१४ कलजुग प्रवाह ,,
६ कृष्णमुरार ,,	१५. सीतारामजी ,,
७ रुक्मणी मंगल ,,	१६ राम लक्ष्मण सलोको
८ कालीनागदमण सलोको	१७ पञ्च सभा रो सलोको
९. बाप बेटी री सलोको	१८ छोटे कंथ री स्त्री रा सलोको

जोधपुर से लक्ष्मी मीलमचन्द बुकसेलर ने सलोका संग्रह प्रकाशित किया है पर वह मेरे अवलोकन में नहीं आया है। और भी कतिपय स्वतन्त्र सलोकों के संग्रह एवं कई 'मुकलावा बहार' आदि संग्रह ग्रंथों में (सलोके) प्रकाशित हुए हैं।

ख्याल संज्ञक काव्य

सभी क्रियाओं का उद्देश्य किसी अभाव व आवश्यकता की पूर्ति ही होता है। कई प्रवृत्तियें पूर्व अभ्यास एव अनुकरण से की जाती है तो कई इच्छा की उत्कटता से अभावों और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए। कुछ प्रवृत्तिया जीवन धारण के लिये अनिवाय होती हैं तो कुछ जीवन को सरस बनाने के लिये स्वीकार की जाती हैं। नाटक, खेल आदि इसी दूसरी प्रकार की प्रवृत्ति में सम्मिलित हैं। मानव जीवन मे कर्त्तव्य है तो क्रीडायें भी हैं।

नाटक खेल मानव जीवन को सरस बनाने के लिये बहुत आवश्यक होने से प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान रूप से प्रिय हैं। इसलिए इसको विशुद्ध लोक-कला कहा जा सकता है। जब से मानव मे सुख दु ख की अनुभूति का विकास हुआ तभी से उसमे थोडे समय के लिये भी जिनसे मनोरजन व आनन्द की प्राप्ति हो, उनको अपनाने म प्रवृत्त होना स्वाभाविक है।

उपलब्ध भारतीय साहित्य में नाटय कला के सम्बन्ध में व्यवस्थित रूप से प्रकाश डालने वाले सबसे प्राचीन भरत मुनि है। उन्होने नाटक की उत्पत्ति के सबध में अपने निम्नोक्त विचार नाटय शास्त्र मे प्रकट किये है —

"सुदूर प्राचीन काल मे सत्य युग मे दु ख और पीडा जसी अनुभूतियों से लोग सवथा अपरिचित थे और इनके अभाव में आनन्द सदृश्य किसी अनुभूति की भी उन्हें कल्पना नही थी। फलत उस युग म आन द के साधनों की भी कोई भी आवश्यकता नहीं थी। समय ने पलटा खाया। काम और लोभ के वशीभूत होकर लोग अनाचार म प्रवृत्त होने लगे। ईर्ष्या, क्रोधादि की भावना के कारण उनम सुख और दु ख की अनुभूति होने लगी। लोगों को इस प्रकार पीडित देख कर इन्द्रादि देवता ब्रह्मा के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया कि एक ऐसा खेल बनाइय जो आखों से देखा जा सके और कानों से सुना भी जा सके। वेदों के द्वारा दिया हुआ उपदेश एक तो रूखा सा होता है, अत वह लोगों के हृदयों के स्पश नहीं कर पाता। दूसरे समझ की कमी क कारण शूद्रादि उसका प्रयोग नही कर सकते। अत आप सभी वर्णों के उपयाग में आने योग्य एक नवीन पचम वेद की रचना

करिये। इस पर तत्वज्ञ ब्रह्मा ने चारों वेदों का स्मरण कर धर्म, अर्थ और मोक्ष को देने वाले इतिहास के साथ साथ उपदेश से युक्त लोगों को लोक व्यवहार का आदर्श सिखाने वाले नाट्य नामक वेद की रचना की जिसमें सभी शास्त्रों का निष्कर्ष लिया गया था और जिसमें सभी शिल्पों का प्रदर्शन आवश्यक था। ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद), सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस, इस प्रकार चारों वेदों से सामग्री लेकर नाट्य वेद का निर्माण किया गया। प्रत्यक्ष ब्रह्मा से आविर्भूत होने के कारण इस कृति को पंचम वेद कहा गया है।'

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नाटक की उत्पत्ति जन साधारण के लिये हुई थी। नाटक का उद्देश्य बतलाते हुए भी भरत ने लिखा है कि वह सर्वोदय और लोकहित के लिए ही है। नाट्य कला एक ओर दुखार्त श्रमार्त एवं शोकार्त के लिये विश्राम जनक एवं मनोरंजक होती है तो दूसरी ओर लोक ज्ञान वर्द्धक भी, क्योंकि कोई भी ज्ञान, शिल्प विद्या, कला या योग ऐसा नहीं जिसका प्रयोग नाट्य अभिनय में न होता हो। नाटक के कई तत्व होते हैं।

१ संवाद २ गीत ३ अभिनय और ४ रस

इससे इसका क्षेत्र कितना व्यापक है इसका भली भांति बोध हो जाता है। साहित्य, संगीत और कला इस त्रिवेणी संगम का यह अद्भुत संयोग है।

प्राचीन जनागमों में भी प्राचीन मानव संस्कृति के विकास की ऐसी ही कथा पाई जाती है। उनके अनुसार प्राचीन मानव युगलिक रूप से उत्पन्न होते थे, उनकी आवश्यकताएं बहुत ही सीमित थी और वृक्षों के द्वारा उनकी पूर्ति हो जाती थी। उन वृक्षों की संज्ञा 'कल्पवृक्ष' पाई जाती है। आज भी जिससे मनोवाञ्छित प्राप्ति होती है उसकी उपमा या विशेषता कल्पवृक्ष से दी जाती है। उस समय परस्पर कलह झगड़े का कोई कारण नहीं था। लोकजीवन एक बंधी लाइन पर चल रहा था। समय ने पलटा खाया। कल्पवृक्षों की फलदातृ शक्ति क्षीण होती चली गई। इधर मनुष्य की क्षुधा आदि आवश्यकताएं बढ़ने लगीं। इसी से पारस्परिक कलह और झगड़ों की उत्पत्ति हुई। इसी संक्रान्ति काल में भगवान ऋषभदेव का अवतार हुआ। उन्होंने प्राचीन परंपरा में सुधार किया और संस्कृति तथा सभ्यता का विकास करने के लिए पुरुषों को ७२ और स्त्रियों को ६४ कलाएं सिखाई। अपनी ज्येष्ठा पुत्री ब्राह्मी को जिस वर्णमाला की शिक्षा दी उसका नाम ब्राह्मी लिपि है और ज्येष्ठ पुत्र भरत को नाट्यकला की शिक्षा दी जिससे भरत नाटक

प्रसिद्ध हुआ। 'वसुदेव हिंडी' नामक पाचवीं शताब्दी के प्रचीन कथा ग्रंथ में इसका उल्लेख पाया जाता है।

संगीत और नाटक मानव को ही नहीं परन्तु पशु जगत को भी प्रभावित करते हैं। देवों का जहां वर्णन मिलता है वहां तो मानो उनका अधिकांश समय नाटक खेल देखने में ही व्यतीत होता है ऐसा वर्णन पाया जाता है। वे नाटक बड़े दिव्य होते हैं और दीर्घकाल तक चलते रहते हैं। भगवान महावीर के समय उनके एक भक्त देव सूर्याभ ने आमलकप्पा नगरी में भगवान महावीर के पास आकर बत्तीस प्रकार के नाटक खेले थे। जिनका बहुत ही सुन्दर वर्णन रायपसेणीय नामक उपांग सूत्र में सौभाग्य से सुरक्षित रह गया है। अभी तक ऐसा विशद नाट्य वर्णन दूसरे ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। इसलिये यहां उसका सारभाग दिया जा रहा है।

"सूर्याभदेव ने भगवान महावीर को वंदना नमस्कार करके विनती की कि भगवन्! आपतो सवज्ञ हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान के भावों, घटनाओं और मेरी दिव्य देव द्युति ऋद्धि सिद्धि सब को जानते हैं पर गौतमादि श्रमण निर्ग्रंथों को मैं ३२ प्रकार की नाटयकला दिखाकर अपनी भक्ति प्रदर्शित करने की इच्छा रखता हूं। महावीर मौन रहे। तब सूर्याभदेव दो तीन बार अपने वाक्यों को दुहरा कर, तीन प्रदक्षिणा देकर नाटक की तैयारी करने लगा। उसने उत्तर, पूर्व और ईशान कोण में जाकर वैक्रिय समुद्घात द्वारा एक लंबा दंड निकाल कर सारी सामग्री सजित की। नाटक के लिये एक गोलाकार स्थान को सज्जित किया, उसके बीच में नाटकशाला खड़ी की। सिंहासन, छत्र आदि सभी वस्तुओं को यथा स्थान सज्जित किया। फिर महावीर को प्रणाम करके स्वयं उनके सामने सिंहासन पर बैठ गया। अपने दाहिने हाथ को प्रसारित कर उसमें से समान रूप लावण्य वाले वस्त्राभूषणों से सुशोभित १०८ देव कुमारों को प्रकट किया और बायें हाथ से इसी प्रकार १०८ देव कुमारियों को। फिर ४६ प्रकार के १०८-१०८ वाद्य यंत्र और उनके ही उनके बजाने वालों को प्रकट किया। तदन्तर देवकुमार और देव कुमारियों को उसने आज्ञा दी कि महावीर एवं गौतमादि सभी निग्रंथों को प्रणाम कर ३२ प्रकार के नाटकों का प्रदर्शन करो। तब वे सूर्याभ के आदेशानुसार एक पंक्ति में खड़े होकर भगवान की वंदना करके वाद्य यंत्र बजाने लगे और नृत्य करने लगे। उन्होंने मंद और मधुर स्वर से संगीत प्रारम्भ करके नाटयशाला को गुंजारित कर दिया और फिर श्रीवत्स, नंद्यावर्त्त, वर्द्धमान, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण आदि नृत्यों का प्रदर्शन किया।

इसी प्रकार अन्य ३० नाट्यकलाओं का प्रदर्शन करने के बाद ३२ वें प्रदर्शन में भगवान महावीर के पूर्व भव से प्रारम्भ कर निर्वाण तक अभिनय कर दिखाया।

इस प्रसंग में रायपसेणी सूत्र में जिन नाट्यों का वर्णन है वे बड़े अद्भुत हैं। उनमें से कुछ का वर्णन तो भरत नाट्य शास्त्र में आता है पर कई नृत्यों की परम्परा भरत नाट्य के निर्माण तक लुप्त हो गई मालूम होती है। अन्त में चार प्रकार के वाद्य तत्, वितत्, घनमवकर और सुषिर एवं चार प्रकार के संगीत उत्क्षीप्त, पादवृद्ध, मंद और रोचित और चार प्रकार के नृत्य, अंचित, रिंचित, आरभट और भसोल और चार प्रकार के अभिनय दार्ष्टान्तिक, प्रात्यंतिक, सामान्य, नोपनीपातनिक और लोक मध्यावसायनिक का प्रदर्शन किया।

अभी तक कोई भी इतना प्राचीन नाटक तो उपलब्ध नहीं हुआ इसलिए जन साधारण के प्राचीन नाटकों का पूर्ण रूप कहा था ? स्पष्ट नहीं बताया जा सकता। विक्रम संवत् के प्रारम्भ के लगभग से संस्कृत के नाटकों की उपलब्धि होने लगती है। इन नाटकों में स्त्रियों के कथोपकथन प्राकृत भाषा में दिये हैं, इससे जन साधारण के निकटवर्ती रहने का प्रयत्न परिलक्षित होता है। मध्यकाल में संस्कृत नाटक तो रचे जाते ही रहे हैं, पर साधारण जनता के लिए लोक भाषा में रास, चर्चरी, फागु आदि काव्य रचे जाने लगे थे, जो गेय के साथ अभिनेय भी थे। किसी मांगलिक प्रसंग, उत्सव, गुरुओं के आगमन, मन्दिरों की प्रतिष्ठादि प्रसंग में जनता इन्हें खूब रस से गाती थी और डंडियों के खेल और तालियों के साथ नृत्य किया जाता था। उस समय के रचे गये ग्रन्थों में इनका स्पष्ट उल्लेख है। वाग्भट्ट और हेमचन्द्रसूरि ने रासक का लक्षण बतलाते हुए उसे उपरूपक बतलाया है — 'डोम्बिका भाण— प्रस्थान-शारिंका-प्रेरण-सिंगक-रामा-क्रीड-हल्लीसक-श्रीगदित रासक-गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि।' इसकी वृत्ति में लिखा है कि "पदार्थाभिनय स्वभावानि डाम्बिकादीनि गेयानि रूपकाणि चिरंतनैरुक्तानि।"

रासक का लक्षण — "अनेक नर्तकी योज्यं चित्र ताल लयान्वितम्।

आचतुःषष्टि युगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥

अर्थात् जिसमें नर्तकियें अनेक हों, अनेक प्रकार के ताल और लय हों, परन्तु जिसमें ६४ तक युगल हो ऐसा कोमल और उद्धत गेय 'रासक' है।

१२वीं से १५वीं शताब्दि के रास, चर्चरी, फागु संज्ञक काव्यों में उनके खेले जाने का उल्लेख मिलता है। सं० १३२७ के सप्त क्षेत्रि रास में लिखा है कि—

"बहसइ सहूइ श्रमणसघ सावय गुणवता।
जोयइ उच्छवु जिणहु भुवणि मनि हरष धरता।
तीछे तालारस पडइ बहु भाट पढ़ता।
अनइ लकुटारस जोईई खेला नाचता॥४८॥
सविहू सरीखा सिणगार सवि तेवड तेवडा।
नाचइ धामीय रभरे तउ भावइ रूड़ा।
सुललित वाणि मधुरि सादि जिण गुण गायता।
ताल मानु छदगीत मेलु वाजित्र वाजता॥४९॥

अर्थात जनमंदिरों के उत्सव प्रसग से श्रावक श्राविका हृष्ट व साथ एकत्रित होते और तालिया के साथ एव डांडियों के खेल के साथ रास खेल जाते।

इसमे स्त्रिया भी भाग लेती थी और रात्रि को भी ये बहुत देर तक खेले जाते थे। अत इस काम को सुविहित मार्गानुयायी मुनियों ने उचित नहीं समझा। विशेषत खरतर गच्छ के आचार्यों ने इसका तो निषेध किया। स० १३२७ म रचित सम्यक्तव माई चौपाई में भी इसका सूचन मिलता है।

"तालारासु रयणि नहु देइ लउडारासु मूलहु वारेइ।" अर्थात तालियों के साथ रास का खेलना रात को न किया जाये और डांडियां लकड़ियो से रास को तो मूलत वर्जित किया जाता है।

फागु का य वसन्त ऋतु में विशेषत फाल्गुन या चैत्र में खेले जाने हैं। स्थूल भद्र फागु में इसका स्पष्ट उल्लेख है —

'खेला नाचइ चत्रमासि रगिहि गावेवउ यहू।"

'विवाहले" काव्यों मे भी उनके रमे जाने व खेले जाने का उल्लेख मिलता है। जिनेश्वर सूरि विवाहले में लिखा है— एह विवाहलउ जे पढ़इ, जे दिया हि खेला खेलहि रग भरे' और रास सनक काव्यों में तो उनके रमने और खेले जाने का उल्लेख अनेक स्थानों में है।

पेथड रास में — "रास रमेवउ जिन भुवणि ताल मेल ठवि पाउ,'

अभय तिलक रचित महावीर रास मे —

'धमणिसु वीरहु रासुलउ, खेलहि मिलव करावित्र

जिनोदयसूरि पट्टाभिषेक रास में — "रमउ रासु इहु रगि।"

रास रमे जाने का अन्तिम उल्लेख सं० १८८६ में रचित उपाध्याय जयसागर के वयर स्वामी रास में मिलता है "उच्छव मगल रास रमिजै।"

जैनाचार्यों के नगर प्रवेशोत्सव के समय रास एव चर्चरी के दिये जाने और धवल मगल गीतों के गाये जाने का उल्लेख युग प्रधानाचार्य गुर्वावली में अनेकों बार किया गया है। सम्राट पृथ्वीराज की सभा शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर जिनपति सूरि पौषधशाला में पधारते हैं तब रास्ते मे चर्चरी दिये जाने और धवलों के गाये जाने का उल्लेख किया है —

'पुर मध्ये स्थाने स्थाने रासभरेण प्रेक्षणीयके निष्पद्यमाने,
दाने च दीयमाने, चर्चर्या दीयमानायां, धवलेषु गीयमानेषु,

सं० १३३७ बीजापुर में वासुपूज्य जिनालय के महोत्सव प्रसंग पर लिखा गया है —

स्थाने स्थाने प्रमुदितजनेन दीयमानेषु प्रधानरासकेषु
नानाविधरागिणी मार्गेषु गीयमानेषु विविध प्रवर चर्चरी श्रेणि गतेषु,

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जन साधारण में जो मध्यकाल मे रास, चर्चरि, फागु आदि रमे व खेले जाते थे वही पीछे से रमत, रामत, खेल, ख्याल के रूप में प्रगटित हुए।

श्री उदयशंकर शास्त्री ने देशबन्धु वर्ष २ अंक ७ प्रकाशित अपने लेख में लिखा है कि— ऐसा कहा जाता है कि १८वीं शती के प्रारंभ के आसपास ही आगरे के इर्द गिर्द एक नई कविता शैली प्रचलित हो चली थी, आगे चलकर जिसका नाम ख्याल पड़ा। ख्याल निश्चित ही उर्दू और फारसी के मसाले से तैयार चीज थी। उसको नये नये कथानकों में बांधना सबका काम नहीं होता था। आगरे में इन ख्यालियों के कई दल, जिनमें सभी प्रकार के लोग थे और सभी प्रकार की कविता वाचन वालों के गोल कभी कभी होड भी लगाने लगते थे।

१५वीं शताब्दी तक के रास साहित्य को देखने पर अधिकांश रास छोटे छोटे ही मिलते हैं उनका उद्देश्य खेले जाने में सुविधा रहे, यही प्रतीत होता है। अधिक बड़े रास एक दिन में व एक खेल में समाप्त नहीं किये जा सकते हैं और खेल देखने वाले प्राय: यही चाहते हैं कि एक दिन में ही वह समाप्त हो जाय। १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बड़े बड़े रास रचे जाने लगे तब से वे चरित काव्य के रूप में परिणित हो गये। इस समय

"बइसइ सहूइ श्रमणसंघ सावय गुणवंता।
जोयइ उच्छवु जिणह भुवणि मनि हरष धरंता।
तीछे तालारस पडइ बहु भाट पढ़ंता।
अनइ लकुटारस जोईई खेला नाचंता ॥४८॥
सविहू सरीखा सिणगार सवि तेवड तेवडा।
नाचइ धामीय रभरे तउ भावइ रूड़ा।
सुललित वाणि मधुरि सादि जिण गुण गायंता।
ताल मानु छंदगीत मेलु वाजिंत्र वाजंता ॥४६॥

अर्थात जनमंदिरों के उत्सव प्रसंग से श्रावक श्राविका हृद के साथ एकत्रित होते और तालियों के साथ एवं डांडियों के खेल के साथ रास खेले जाते।

इसमें स्त्रियां भी भाग लेती थीं और रात्रि को भी ये बहुत देर तक खेले जाते थे। अतः इस कार्य को सुविहित मार्गानुयायी मुनियों ने उचित नहीं समझा। विशेषतः खरतर गच्छ के आचार्यों ने इसका तो निषेध किया। सं० १३२७ में रचित सम्यक्त्व माई चौपाई में भी इसका सूचन मिलता है।

"तालारासु रयणि नहु देइ लउडारासु मूलह वारेइ।" अर्थात तालियों के साथ रास का खेलना रात को न किया जाये और डांडियां लकड़ियों के रास को तो मूलतः वर्जित किया जाता है।

फागु काव्य वसंत ऋतु में विशेषतः फाल्गुन या चैत्र में खेले जाते हैं। स्थूल भद्र फागु में इसका स्पष्ट उल्लेख है —

'खेला नाचइ चैत्रमासि रंगिहि गावेवउ बहू।"

'विवाहले" काव्यों में भी उनके रमे जाने व खेले जाने का उल्लेख मिलता है। जिनेश्वर सूरि विवाहले में लिखा है— एहु विवाहलउ जे पढ़इ, जे दिया हि खेला खेलहि रंग भरे" और रास संज्ञक काव्यों में तो उनके रमने और खेले जाने का उल्लेख अनेक स्थानों में है।

पेथड रास में — "रास रमेवउ जिन भुवणि ताल मेल ठवि पाउ,'

अभय तिलक रचित महावीर रास में —

"पभणिसु वीरह रासुलउ, खेलहिं विलय कराविउ

जिनोदयसूरि पट्टाभिषेक रास में — "रमउ रासु बहु रंगि।"

रास रमे जाने का अन्तिम उल्लेख सं० १४८९ में रचित उपाध्याय जयसागर के थयर स्वामी रास में मिलता है "उच्छव मगल रास रमिजै।"

जनाचार्यों के नगर प्रवेशोत्सव के समय रास एवं चचरी के दिए जाने और धवल मगल गीतों के गाये जाने का उल्लेख युग प्रधानाचार्य गुर्वावली में अनेकों बार किया गया है। सम्राट पृथ्वीराज की सभा शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर जिनपति सूरि पौषधशाला में पधारते हैं तब रास्ते में चचरी दिये जाने और धवलों के गाये जाने का उल्लेख किया है —

"पुर मध्य स्थाने स्थाने रासभरेण प्रेक्षणीयक निष्पद्यमान,

दान च दाप्रियमाणे, चच्चर्या दीयमानायाँ, धवलेषु गीयमानेषु,

सं० १३३७ बीजापुर में वासुपूज्य जिनालय के महोत्सव प्रसंग पर लिखा गया है —

स्थाने स्थाने प्रमुदितजनेन दीयमानेषु प्रधानरासकेषु,

नानाविधरागि मार्गेषु गीयमानेषु विविध प्रवर चचरी धेलि नतेषु,

उपयुक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जन साधारण में जो मध्यकाल में रास, चर्चरि, फागु आदि रमे व खेले जाते थे वही पीछे से रमत, रामत, खेल, ख्याल के रूप में प्रसिद्ध हुए।

श्री उदयशंकर शास्त्री ने देशबन्धु वर्ष २ अंक ७ प्रकाशित अपने लेख में लिखा है कि— ऐसा कहा जाता है कि १८वीं शती के प्रारम्भ के आसपास ही आगरे के इद गिर्द एक नई कविता शैली प्रचलित हो चली थी, आगे चलकर जिसका नाम ख्याल पड़ा। ख्याल निश्चित ही उर्दू और फारसी के मसाले से तैयार चीज थी। इसकी नये नये कथानकों में बांधना सबका काम नहीं होता था। आगरे में इन ख्यालियों के कई दल, जिनमें सभी प्रकार के लोग थे और सभी प्रकार की बन्दिशें बांधने वालों के नाम कभी कभी होड़ भी लगाने लगते थे।

१५वीं शताब्दी तक के रास साहित्य को देखने पर अधिकांश रास छोटे छोटे ही मिलते हैं उनका उद्देश्य खेले जाने में सुविधा रहे, यही प्रतीत होता है। अधिक कवि रास एक दिन में व एक खेल में समाप्त नहीं किये जा सकते हैं और जन साधारण यही चाहते हैं कि एक दिन में ही वह समाप्त हो जाय। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बड़े बड़े रास रचे जाने लगे तब से वे चरित काव्य के रूप में परिणित हो गए। इस प्रकार

से १८वी शताब्दी तक जन साधारण के खेल तमाश के रूप मे किन काव्यो का प्रचार रहा एव खेल किस प्रकार से खेल जाते थे ? इसका कोई ठीक ठिकाना नही है। रासकों की परम्परा रासलीला एव गर्बा इत्यादि के रूप मे आज भी चल रही है। लोक भाषा में रचित प्राचीन नाटक तो बहुत ही कम मिलते हैं।

श्री उदयशकर शास्त्री ने ख्यालों का प्रारम्भ १८वी शताब्दी व से आगरे के आसपास के प्रदेश से होना माना है पर १८वीं शताब्दी के रचित ख्याल संज्ञक काव्य कोई भी उपलब्ध नही है। समव है वे छोटे रूप में हों और मौखिक प्रचलित रहे हों।

जहां तक राजस्थान मे लिखित ख्यालो के प्रचार का प्रश्न है मेरे ख्याल से १९वीं शताब्दी के से ही इनका प्रचार हुआ होगा। अनूप सस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर की एक हस्तलिखित प्रति मे मारवाडी में ख्याल लिखा मिलता है पर वह थोडे से पद्यों का ही है। सभवत यह प्रति १९वीं के उत्तराद्ध या २०वी के प्रारम्भ की होगी। श्री मोतीचन्द जी खजांची के सग्रह में हीर रजा के तमासे की एक छोटी प्रति देखने को मिली है जो १९वी के उत्तराद्ध की है।

प्रकाशित मारवाडी ख्यालों में जहा तक मुझे ज्ञात हुआ है, Scotch Presbyterian Mission ब्यावर की प्रकाशित एव पादरी रोसन के सम्पादित 'मारवाडी ख्यालात' पुस्तक ही सवप्रथम है। यह पुस्तक प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नही हो सकी। पर इनमें प्रकाशित 'डूगजी जवारजी" के ख्याल के कई उद्धरण 'S H kellogg के "A Grammar of the Hindi language पुस्तक में देखने को मिलते हैं।

लोक कला के शताक में श्री मनोहर शर्मा का 'राजस्थान के लोक नाटक ख्याल" नामक एक सुन्दर लेख प्रकाशित हुआ है। उसमे उनके देखने म आए हुए प्रकाशित ६६ ख्यालों की नामावलि भी दी गई है। पर ख्याल तो सकड़ों की सख्या में हैं। राजस्थान के जोधपुर, भरतपुर, जयपुर, किशनगढ़, कुचामन, जसलमेर के अतिरिक्त ब्यावर, मथुरा से ही नहीं पर सुदूर कलकत्ता बम्बई व मध्यभारत से भी राजस्थानी जनता में विक्रय के लिये बहु सख्यक ख्याल प्रकाशित हुए हैं। इनमें से कइयों में उनके रचयिता का निर्देश नहा है पर रचयिता के निर्देश वाले ख्यालों से उनके रचयिता बहुत प्रचुर सख्या में हैं और विभिन्न जाति वाले हैं सिद्ध होता है।

ख्याल राजस्थानी लोक-साहित्य का एक अविभाज्य अंग है। इसमें वास्तविक

रूप में संगीत है। वाद्य, नृत्य, एवं गीत की त्रिवेणी में स्नान करके जनसाधारण की आत्मा बड़ी ही प्रसन्न होती है। ख्यालों में ये तीनों ही अपनी विशेषता के साथ प्रयुक्त होते हैं। ये गीत नाटक राजस्थान की महाप्राणता के अनुरूप भी है। साधारण आदमी के लिये इनका अभिनय बड़ा कठिन है। इनके लिये गायक के गले में शक्ति होना जरूरी है। इसी जोर के लिये प्रत्येक गायक मंच पर आते ही सवप्रथम शारदा की वंदना करते हैं। ख्याल के गायकों में गुरु के प्रति भी अपार श्रद्धा मिलेगी। वे गुरु का नाम लेकर ही अखाड़े में नाच प्रारम्भ करते हैं। यह मंगल प्रेरणा भी ख्यालों की एक विशेषता है। फिर भी खेद है कि लोक-साहित्य के अन्य अंगों की तरह ख्यालों के प्रति भी लोगों का ध्यान कम होता जा रहा है। साहित्य शोधकों का कर्तव्य है कि इस रस धारा को सूखने न दें। अब ख्यालों को नया जीवन मिलना चाहिये। उनमें नये नये प्रसंगों का प्रयोग होना चाहिए। राजस्थान के लोगों के पास महापुरुषों का संदेश पहुँचाने में ये ख्याल बड़े ही सहायक सिद्ध हो सकते हैं। वास्तव में इसी भावना का ये ख्याल निभाए भी बने आ रहे हैं। प्रत्येक युग के विशिष्ट पुरुषों के जीवन पर ख्याल बने हैं और उनका अभिनय हुआ है। पुस्तकें बदलती रही है, परन्तु अभिनय का रूप वही प्राचीन चला आ रहा है। लोक जीवन को ऊँचा उठाने का यह एक आम साधन है। किसी देश की वास्तविक उन्नति उसके लोक जीवन का उत्थान ही है।

प्रकाशित ख्यालों की अकारादि क्रम से सूची

१ अमरसिंह — मोतीलाल
२ अमरसिंह हाडो रानी — उजीरा
३ अमरफल भर्तृहरि को
४ अमलदार
५ अष्टपदी
६ आनन्दी गणपति — पूनमचन्द
७ इन्द्रसभा — नानू
८ इन्द्र कुंवर — नानू
९ उद्धव गोपिका — पूनमचन्द
१० कलयुग
११ कापे चूने का — गणेश वद्य
१२ काकी जेठूता
१३ केसरीसिंह का ख्याल — फूलचंद
कसरी सिंह
१४ कसर गुलाब का ख्याल
१५ कसरीसिंह — बनीधर शर्मा
१६ कुंवनमल
१७ खटपटिया का — पूनमचन्द
१८ खींवजी आभल दे — नानूलाल
१९ ख्याल दोहा पाली संग्रह
२० ख्याल दसमासिया
२१ ख्याल मारवाड़ी गीत

१२८ राव रिड़मल
१२९ रिसालू बालक वे
१३० रामदेवजी का ख्याल
१३१ रुकमणी मगल का खेल
१३२ रुकमणी स्वयवर का खेल
१३३ रुकमणी हरण का खेल
१३४ राजा भोज भानमती
१३५ रिसालू वेलादे
१३६ राजा करण—प्रेमसुख भोजक
१३७ राणा रतनसिंह—चुन्नीलाल
१३८ रतन कुवर चन्द्रावल
१३९ रिसालू रसवती—पूनमचन्द
१४० रिसालू वेलादे—पूनमचन्द
१४१ लला मजनू पाक मोहब्बत—नानू
१४२ लकावहन सीताहरण
१४३ विराट पव भाग पहला—नानू
१४४ विराट पव भाग दूसरा—नानू
१४५ विराट पव भाग तीसरा—नानू
१४६ विराट पव भाग चौथा—नानू
१४७ विक्रमादित्य को ख्याल
१४८ विजयसिंह को ख्याल
१४९ वीरमदे सोनगरो
१५० विक्रम ससिकला—लालचन्द
१५१ विक्रमादित्य चन्द्रकला—पूनमचन्द
१५२ सोलो सतवती
१५३ श्रवणकुमार
१५४ शाहजादे का—झावरमल
१५५ शंकर कैलाशी
१५६ श्याम कलिजा इदु को
१५७ सत्यनारायण व्रत कथा—बनीधर
१५८ सभापव अथवा चीर हरण—नानू
१५९ सीलकरण सुदबुद सालमा

—हरिकरण
१६० सुलतान मरवण भात का—श्रा
र
१६१ सूरज कुवर—फतहचन्द
१६२ सेठ सेठानी
१६३ सोलह बनजारे का
१६४ सोरठ बीझा को ख्याल
१६५ सती हेमकुमार
१६६ सुलोचना
१६७ सोने लोहे के झगडे को ख्याल
१६८ सौदागर वजीरजादी—नानू
१६९ सासू बहू का ख्याल
१७० साहिब नू सच्चा
१७१ सुलतान निहालो—वजीरा
१७२ सोलो सतवती—गंगाबक्स
१७३ सॅवरामाजलदे—पूनमचन्द
१७४ सुधबुध सवलगरा
१७५ सोरठ बींझा
१७६ सेठ मुनीम—नानू
१७७ सहजादे का खेल
१७८ सुलतान बादस्याह—नानू
१७९ सहजादा मटियारी—वजीर
१८० सायवर्णा ऊदयाल—चौकलर
१८१ स्यामी चेला—गोविंदराम
१८२ सहजादी
१८३ हरिचन्द्र का बड़ा ख्याल—बज
१८४ हार रांझों—नानू
१८५ हेम कुवर चरित
१८६ हरिश्चन्द्र तारामती
१८७ हकीम गरमी वाला
१८८ हमीरहठ
१८९ हरिश्चन्द्र तारादे

हियाली संज्ञक रचनाएं

जीव जगत् के लिये बौद्धिक शक्ति प्रकृति की एक अनुपम देन है, जीवन में पग पग पर बौद्धिक विकास की आवश्यकता का अनुभव होता है। बुद्धि के बिना शारीरिक बल भी विशेष कामयाब नहीं होता व बहुत सी बातें तो बुद्धि के द्वारा ही ठीक से सम्पन्न हो सकती हैं वहां शारीरिक बल कोई काम नहीं देता। जीवन में अनेक बार हम ऐसी उलझनों में फस जाते हैं कि हमें क्या करना चाहिए? इसका कोई मार्ग नहीं सूझता। बुद्धि उस समय हमें मार्ग प्रदर्शित कर उलझनों को सुलझाने में सहायता करती है। नित्य नये आविष्कार एवं ज्ञान विज्ञान की खोज बुद्धि के द्वारा ही संभव है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव में बुद्धि विशेष रूप से विकसित पाई जाती है। छोटे से लेकर बड़े किसी भी काम में बुद्धिहीन एवं बुद्धिमान के समान रूप से करने पर भी उसकी प्रणाली की सुन्दरता व शीघ्रता व सुचारुता एवं भद्दापन सफलता एवं विफलता का जो अन्तर नजर आता है वह बौद्धिक विकास की तारतम्यता के कारण ही।

बारबल की प्रसिद्धि, उसकी हाजिर जवाबी एवं कुशाग्रबुद्धि के कारण ही है। जैन साहित्य में महाराजा श्रेणिक और उनके पुत्र अभयकुमार के बौद्धिक चमत्कारों के उदाहरण मिलते हैं। जैन समाज के व्यापारी वर्ग अपने नये खातों में अभयकुमार के समान बुद्धि होने की कामना अंकित करते हैं। नंदीसूत्र में चार प्रकार की बुद्धियों का विवरण मिलता है जिसके दृष्टान्त में, रोहक आदि के कई बुद्धिवर्द्धक दृष्टान्त टीकाकारों ने दिये हैं। 'चार प्रत्येक बुद्ध चरित्र' में एक चितेरे की लड़की ने किस प्रकार नित्य नई समस्यामूलक कहानियां कहकर अपने पति (राजा) को छः महीने तक नित्य उन कहानियों एवं उनमें आई हुई समस्याओं के परिणाम को सुनने के लिये आने को बाध्य किया, इसकी रोचक कथा पाई जाती है। 'उत्तराध्ययन सूत्र वृत्ति' में इसकी कही हुई बौद्धिक चमत्कार सूचक कई कहानियों का संग्रह किया गया है, हमारे उस प्राचीन बुद्धिवर्द्धक साहित्य को अधिकाधिक प्रकाश में लाना अत्यन्त आवश्यक है।

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य भी बौद्धिक विकास ही होता है। समुचित बौद्धिक विकास होने पर वह व्यक्ति जिस किसी क्षेत्र में काम करेगा, उसे व्यवस्थित रूप से

संपन्न करके सफलता प्राप्त कर सकेगा। गणित-शास्त्र भी हमारी बुद्धि को तेज करने के लिये अच्छा साधन है, उसमें अनेक ऐसे सवाल आते हैं जो साधे तौर पर हल करने में बड़े कठिन मालूम होते है, पर बुद्धि और गुर के द्वारा सहज ही हल किये जा सकते हैं। राजस्थान में जो गणित शिक्षा की परिपाटी प्राचीन काल से चली आ रही है वह बच्चों को बहुत शीघ्रता से लेखे और हिसाब में दक्ष बना देती है। उनकी ऊपर वाडियें इतनी सफल है कि जिस हिसाब को अंग्रेजी पढा लिखा अथमेटिक के अनुसार घटों में हल नहीं कर सकता और उसे अनेक कागज काले करने पड़ते हैं, वह मारवाडी 'मारजाओं' द्वारा शिक्षित छोटे छोटे बच्चे चद मिनटो म व मौखिक रूप से ही हल करके बता देते हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में उन सरल परिपाटियों की पूछ नहीं होने से हमारी वह विद्या दिनो दिन कमजोर हो रही है इसका भी हमें प्रचार उद्धार व विकास ठीक से करना होगा।

राजस्थान में विवाह आदि के समय जामाता को सालियां ससुराल में रात्रि के समय उसकी बौद्धिक परीक्षा के लिये अनेक प्रकार की आडियें पहेलियें-पूछती हैं, यदि जामाता उनका ठीक से उत्तर नही दे पाता तो उसे नीचा देखना पडता है और सालियें आदि उसे मोंदू समझ लेती हैं। इस समय गीत गाने वाली स्त्रिया भी एक ऐसा गीत गाया करती हैं जिसमे अटपटी बातें (हियालियां) कही जाती हैं, उन समस्याओं का उत्तर जवाई से पूछा जाता है। आज कल तो हमारी कन्याओ म शिक्षा की कमी होने से उन आडियों की जानकारी बहुत सीमित ही होती है पर य जन ज्ञान भडारों में लिखित रूप में सकडों की सख्या में पाई जाती हैं। ऐसी ४०४ आडियों का एक सग्रह २७ वष पूव बीकानेर से अयोध्याप्रसाद शर्मा ने 'आडी सग्रह' के नाम से प्रकाशित किया था। खोज करने पर और भी अनेक आडियां मिलेगी जिनके सग्रह के द्वारा हमारे बौद्धिक विकास में बडी सहायता मिल सकती है। ये पहेलिया विविध प्रकार की होती हैं कुछ की सज्ञा 'गूढ़ा' है जिसमें भाव गूढ (गुप्त) रहता है, कुछ गुरु चेलों के दोहों के रुप में प्रसिद्ध हैं जिनमें तीन तीन बातों का उत्तर एक शब्द द्वारा दे दिया गया है। ऐसे दोहों का कुछ संग्रह मैंने 'राजस्थान भारती (भाग २ अक १) में प्रकाशित किया था। कई सखियों से प्रश्न के रूप में भी ऐसे प्रश्न 'सउत्तरा' के नाम में पाये जाते हैं। श्रीयुत मनोहर शर्मा के राजस्थान की पहेलियों के सबंध मे कई लेख राजस्थान भारती, वरदा आदि में प्रकाशित हो चुके है। इनमें लोक प्रचलित पहलियों के विविध उदाहरण संग्रहीत हैं। अतर्लापिका, बहिर्लापिका, समस्यापूर्ति

आदि रचनाएं भी बुद्धिवर्द्धक होती हैं।

राजस्थानी लोकवार्ताओं में भी कई वार्ताएं बड़ी बुद्धिवर्द्धक होती हैं जिनमें किसी समस्या का हल बड़े विचित्र बुद्धि-कौशल से कराया जाता है। मैंने ऐसी कई लोकवार्ताएं प्रकाशित की हैं। जिनमें से एक का शीर्षक है 'बाप से बेटा सवाया'। ऐसी और भी कई लोकवार्ताएं मिलती हैं उनका भी संग्रह प्रकाशित होना चाहिए।

जैन कवियों के रास आदि ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में नवदम्पति एक दूसरे की बुद्धि परीक्षा और मनोरंजन दूहा गूढा, छन्द हियाली और चौबोली आदि की वार्ताएं कह कर किया करते थे। कवि समयसुन्दर ने 'नल दमयन्ती' चौपाई में नव-दम्पति के रात्रि के समय विनोदवार्ता करने के प्रसंग में कहा है —

कय ही चौबोली कहे दूहा गूढा छन्द
हियाली पूछे कहे, अहनिशि करे आनन्द ।।

'माधवनल काम कन्दला' प्रबन्ध आदि में भी दम्पति के इन्हीं बातों द्वारा मनोरंजन एवं समयनिगमन का उल्लेख मिलता है। कवि गणपति के माधवानल प्रबन्ध में बहुत सी पहेलियें प्रकाशित हैं।

जैन कवियों ने हियाली संज्ञक ऐसी बहुत सी रचनाएं की हैं जो बड़ी ही समस्या मूलक होती हैं। हियाली शब्द का सबसे प्राचीन उल्लेख प्राकृत भाषा के वजालग्ग ग्रन्थ में देखने को मिलता है जो करीब १२ वीं १३ वीं शताब्दी का है। उसमें दी हुई हियालियों से परवर्ती प्राचीन राजस्थानी भाषा की हियालियें कुछ भिन्न प्रकार की हैं। इससे हमें हियाली के स्वरूप विकास की जानकारी मिल जाती है। अभी तक १६ वीं शताब्दी के कवि देपाल की हियाली को ही प्राचीन समझा जाता रहा है। पर हमारे संग्रह में १५ वीं शताब्दी लिखित सुभाषित संग्रह की एक प्रति है। उसमें कुछ प्राचीन हियालियें व पहेलियें भी मिली हैं। बीकानेर के ज्ञान भंडार की एक संग्रह प्रति में भी हियालियें मिली हैं जो १४ वीं शताब्दी की रचना है। १४ वीं शताब्दी से १९ वीं शताब्दी तक के जैन कवियों के रचित हियालियें सैंकड़ों की संख्या में प्राप्त हैं जिनमें से कुछ का संग्रह हमने करीब ३२ वर्ष पूर्व किया था और अहमदाबाद से प्रकाशित 'जैन ज्योति' नामक मासिक पत्र में करीब ४० हियालियें प्रकाशनार्थ भेजी थी। उस पत्र के सम्वत् १९८९ के मिगसर के अंक में "जैन कवियों का हियाली साहित्य" शीर्षक हमारा लेख भी छपा था पर उसमें कविवर समयसुन्दर की दो हियालियें ही प्रकाशित हुई थी। हियाली संज्ञक रचनायें जैन कवियों की एक विशेष

बौद्धिक देन है — अत इस लेख में से उनम से दो चार उदाहरण के रूप में प्रकाशित की जा रही हैं। जिससे उनके स्वरूप का परिचय मिल जाएगा। कसी सूची के साथ उन्होंने किसी वस्तु के नाम निर्देन के अतिरिक्त सारी बातों का वरान करके पहितों एव श्रोताओं से उसके भावार्थ के बतलाने की माग की है यह इनके पढ़ने से विदित हो जायगा। पाठक नीचे दी हुई हियालियो से इन रचनाओं का रसास्वादन करें।

महाकवि समयसु दर १७वीं शताब्दी के राजस्थान के एक प्रसिद्ध कवि हो गए है। यहां सव प्रथम उ होंकी रचित दो हियालियें दी जाती हैं।

(१)

कहिज्यो पडित एह हीयाली, तुम्हें घउ चतुर विचारी।
नारी एक अरण अक्खर नामइ दीठी नयर मझारी रे ॥१॥क०॥
मुख अनेक पणि जीभ नहीं है नर नारी सु रावई।
चरण नहीं ते हाथे चालइ नाटक पालइ नाचइ रे ॥२॥क०॥
अन्न खायइ पणि पानी न पीयइ दिवति न राति विहाडइ।
पर उपगार करइ पणि परतवि, अवगुण कोडि विलाइइ। ३॥क०॥
अवधि आठ दिवस नो आपी हियइ विमासी जोज्यो।
समयसु दर कहइ समझी लेज्यो, पणिते सरीखा मति होज्यो ॥४॥क०॥

लेखक क सग्रह मे (उत्तर चालणी)

(२)

पखो एक वनि रूपनउ जी हो आव्यो नयरि मझार।
आंखडली अणियालडी जी हो वेलइ नहिय लगार ॥१॥
हरियाली रे चतुर नर हरियाली रे,
सुन्दर नर जी हो कहिज्यो हियइ विमासि।
साचा पाच कारण कह्या जी हो कहै तेह न सावासि ॥२॥ह०॥
पांच सदा चरतो रहै जी वमन करइ आहार।
राति दिवस रमतउ रहइ जी हो न चढ़इ नरवर यार ॥३॥ह०॥
मुखउ बोलइ अति घणउ जी हो, बोल्यु नवि समझाय।
नारि संघातइ नेहलउ जी हो, बिन अपराध बधाय ॥४॥ह०॥

हे मरिण मणि बापडउ जी हो, प्रमदा माडयउ पास ।
समयसुंदर कहइ ते भणो जी हो, नारी तउ म करिएउ वेसास ॥५॥हू०॥

इतिहियाली गीतद्वयम् पं. मानसिंह लखि

(उत्तर कलम)

कविवर धमसी (धर्म वद्धन) रचित हियालो द्वय—

(३)

अरथ कहो तुम वहिलो एहनो, सखर हियाली हे सार । चतुरनर ।
एक पुरुष छन माहे परगडो, सहु जाणे संसार ॥१॥च०॥
पग विहुणो परदेसे भम, आव तुरतउ जाय ।
बैठो रहे आपणे घरि बापड़ो, तो पिण चपल कहाय ॥२॥च०॥
कोइक तो तेहन राजा कहे, कोई तो कहे रंक ।
साँचो सरस सुजाण कहे सहु, वलि तिण माहे रे वंक ॥३॥च०॥
पोते स्वारथ सु पांचो मिले, आप मुरावो रे एह ।
धन तिके नर कहे श्री धमसी, जीपे तेहु रे जेह ॥४॥च०॥

(उत्तर १ मन)

(४)

चतुर कहो तुम्हें चूंपसु अरथ हियाली एहोरे ।
नारी एक प्रसिद्ध छ, सगला पास सनेहो रे ॥१॥च०॥
ओलें बठी एकली, कर सगलाइ कामो रे ।
रातो रस भीनी रहे छोडे नहीं निज ठामो रे ॥२॥च०॥
चाकर चौकीदार ज्यू, महुता राखे पासो रे ।
काम कराव ते कह्या, विलस आप विलासोरे ॥३॥च०॥
कोई प्रीति मणे वणे, कोई पिण तिण वारो रे ।
करिज्यो मन धमसी कहे, सुख वांछो जो सारो रे ॥४॥च०॥

(उत्तर । जीभ)